श्री सुमित्रानंदन पंत

पौ फटने से पहले

पौ फटने से पहिले

सुमित्रानंदन पंत

विज्ञापन

'पौ फटने से पहिले' में मेरी सन् १९६७ की कुछ कविताएँ संगृहीत हैं, जिनमें से अधिकाँश अब के ग्रीष्मावकाश में रानीखेत में लिखी गई हैं। इन रागात्मक रचनाओं में मैंने आज के युग की पृष्ठभूमि में प्रेमा के संचरण को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है; ये प्रतिक्रियाएँ कई वर्षों से मेरे भीतर संचित थीं। अनेक लोगों के लिए जो कल्पना मात्र है वह मेरे लिए सत्य रहा है। जो मेरे अत्यंत घनिष्ठ संपर्क में रहे हैं वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं कि मेरा मन अधिकतर इसी भाव-भूमि पर विचरण करता रहा है।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मैं अपनी भावनात्मक सर्जनाओं को इन रचनाओं में यत्किंचित् वाणी दे सका हूँ। जैसा कि 'पौ फटने से पहिले' नाम से स्पष्ट है, इन रचनाओं में आज के ह्रास युगीन भावनात्मक संघर्ष का गहन अंधकार तथा कल की संवेदना का आशारुण प्रकाश संग्रथित है, साथ ही राग चेतना के सामाजिक-विकास की सूक्ष्म-रूप रेखा भी इनमें अंतर्हित है। मुझे विश्वास है, प्रस्तुत काव्य संग्रह मेरी भाव-दृष्टि के अध्ययन में सहायक हो सकेगा।

ये रचनाएँ मूलतः जीवन की केन्द्रीय चेतना को सम्बोधित हैं।

१८ बी० ७, के० जी० मार्ग, इलाहाबाद
१० जुलाई, १९६७

—सुमित्रानंदन पंत

बच्चन को

षष्टि पूर्ति पर

सस्नेह

पंक्ति सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	९	प्रिय	प्रिये
५६	४	सवगत	सर्वगत
६४	२	चाप	चापें
६४	१३	गंध	गंध से
११७	१९	का	की
११७	२६	सँजा	सँजो
११८	१४	अंतमुंक्त	अंतर्मुक्त
१७१	१४	थे	वे

(एक)

अंधकार का घोर प्रहर यह
नीरवता गहराती रह रह,—
मन में नहीं कहीं भय संशय,
प्राण, अभी पौ फटनें वाली!

लोक परीक्षा का दारुण क्षण
दृष्टि ज्योति हत, लक्ष्य भ्रष्ट मन,
बढता ही जाता संघर्षण
निशा और भी घिरती काली!

गरज रहा निस्तल तम सागर
निश्चेतन भू-मन का गह्वर,—
शांत, सौम्य आस्था का अंतर
नभ में फूटेगी ही लाली!

भाव स्तब्ध, निर्वाक् दिगंतर
छायाएँ सी चलतीं भू पर,
चीर तीर सी रही क्षितिज-उर
अरुण चूड़ की ध्वनि मतवाली!

मूँद रहीं ताराएँ लोचन
स्वप्नों से उपचेतन उन्मन,
निर्जन तम में रेंग रहा कुछ
केंचुल झाड़ रही निशि व्याली!

रक्त-स्नात, लो, प्राची अंबर
धँसता उर में स्वर्ण पंख शर,
अँगड़ाता सोया समीर जग,
तृण तरुदल देते करताली!

अब प्रकाश-गर्भित लगता तम
यह नव युग आगम का उपक्रम,
चूर्णिताक्षि, नीलम-प्याली में
तुमने फिर रस-मदिरा ढाली!

(दो)

कौन वे स्वर्णिम क्षितिज
तुम पार जिनके
प्रिये, रहती हो अगोचर!

तैर स्मित मरकत प्रसार
हरित जलधि-से
तरल प्राणों के मनोहर,
लाँघ
नीलारोह मन के,
शुभ्र ऊषाएँ
जहाँ से उतर निःस्वर
फालसई आलोक के
रचतीं दिगंतर!

खोजता मैं
तुम्हें तद्गत
चेतना के
स्फटिक शिखरों पर
विचर कर!

प्राण,

फहराता रुपहली वायुओं

सुनहला अंचल तुम्हारा

धरा-रज रोमांच से भर,—

मौन

सुन पड़ती

तृषातुर घाटियों में

नृत्य नूपुर ध्वनि—

अमृत के मेघ सी झर!

चेतना ही नहीं,

जग की वस्तुएँ भी

भेद कहतीं—

हृदय भय संशय तिमिर हर!

विश्व क्षर यह,

विश्वमयि, पर,—

विश्व की सर्वस्व तुम

शाश्वत, अनश्वर!

तरुणि,

मिलनातुर,

क्षितिज से झुक रही तुम,—

रूप धरती भावना में

ज्योति भास्वर,

प्रीति तन्मय हृदय

रति-उन्मेष प्रेरित

सृजन स्वप्न निरत ;

जगाता मर्म में संवेदना स्वर,

सूक्ष्म रस में द्रवित अंतर!

(तीन)

जब तुम्हें मैं, प्राण, छूता,
देह के भीतर कहीं
छूता अगोचर !

लाज में लिपटीं
उषाएँ उतर नभ से
कल्पना के खोलतीं
उर में दिगंतर,

भाव वैभव से प्रसन्न
वसंत करता
रंग रुचि मुकुलित
दिगंत विषण्ण पतझर !

स्वर्ग के खुलते
झरोखे निर्निमेष,
अशेष दिखता चेतना-मुख,

देह रहती रूप,
रूप अनिन्द्य श्री सुषमा गुणों से
भाव वेष्टित
ज्योति मंदिर सा प्रतिष्ठित
बोध को रस मुग्ध कर
देता अमित सुख !

अमृत झरता प्राण-मन में,
उर अघाता ही नहीं,
छवि पान भर करता अनश्वर !

रोम रोम प्रहर्ष करते वहन,
रस-अनुभूति से
अँग सिहर उठते,
तड़ित् सुख से
मर्म थर्थर् !

कौन कहता—
देह हो तुम ?
वस्तु गुण ही चेतना है ?
तुम पृथक् रज देह से
सत्ता विमुक्त—
मुझे बताती
गूढ़ ऋत-संवेदना है !

देह पर पा जय
    प्रिये, मैं छू सका हूँ
    प्रीति रस मधु-छत्र
    ज्योति:सर
    तुम्हारा गुह्य अंतर!—

        ज्ञान जाए, मान जाए,
        उतर आए
            देह मन पर
            प्राण पर
        रस ज्योति निर्झर,—

            जननि, रूपांतर
            जगत् का कर
                निरंतर!

(चार)

तुम सोने के सूक्ष्म तार सी
कितनी हो नमनीय,
सहज कमनीय

तुम्हारे सौम्य मूल्य को
आँक नहीं पाया
हेमांगिनि,
बर्बर भू-नर !

सखि अंतश्चेतने,
उपेक्षा करता आया
मनुज निरंतर
तुम्हें नगण्य
अवस्तु समझ कर !

ज्ञात नहीं उसको
तुम अपनी शील शक्ति से
हिमगिरि को भी उठा
नचा सकती छिगुनी पर !

हाय, दर्प से चूर चूर
अब मानव का मन!
विद्या मद, धन पद
कुल यश मद--
सभी उसे मोहांध किए,
उन्मत्त उठा फन!

भूल गया वह मानवीय गुण,
निष्ठा, आस्था, सहृदयता,--
तप त्याग, समर्पण!

नहीं जानता,
स्नेह-दुग्ध ही से होता
जीवों का पोषण--
सत्य प्रेरणा ही से
जीवन का संवर्धन!
सहज भाव-तन्मयता ही से
श्री शोभा स्वप्नों का सर्जन!

हेम लते हे,
विवश कर रहा नर तुमको
तुम चंडी रूप करो फिर धारण,--
ध्वस्त करो मिथ्याऽभिमान को,
नष्ट करो खोखले ज्ञान को,--
अंतर्मुख फिर करो ध्यान को,
संचालित कर लोक-यान को!

ओ निश्छल शिशु ही सी
हृदय-बोध-लौ,
चिन्मयि,
आत्म नम्र सौन्दर्य स्पर्श पा
प्रिये, तुम्हारा
यह ब्रह्मांड स्वत: ही सारा
स्वर-संगति में बँधा अखंड
सृजन-लय नर्तित,

श्री शोभा स्वर्गों में
होता रहता विकसित,
सित इंगित मर्यादित !
शुभे,
करो भू-पथ फिर शासित !

(पाँच)

तुम नहीं होतीं
किसे मैं, प्राण, पहनाता
सुनहली ज्योति-ध्वनि पायल?
जिन्हें गढ़ते किरण चुंबित
लहरियों के मुखर करतल!

मचलतीं ही क्यों लहरियाँ
दृष्टि-सर में?
स्वर्ग किरणें ही उतरतीं
क्यों धरा-रज पर?—
विचरतीं मुक्त अंबर में!

तुम न होतीं तो
वसंत कभी बनाता
रूप-मांसल
रिक्त वन का अस्थि-पंजर?

जहाँ बारह मास रहता
हिम-अकिंचन
निःस्व पतझर!

साँस लेता क्या समीरण
शून्य में भर हृदय-स्पंदन ?
गंध-घट अहरह उडेल
सुमन भ्रमर का
निर्निमिष करते कि अभिनंदन ?

लता ही क्यों कँप
पिरोती हार कलियों के
विटप की बाँह में
करने समर्पण
फुल्ल यौवन ?

कोकिला निश्चय न गाती !—
(सृष्टि भी किसको सुहाती ?)
जन्म क्या लेती कभी वाणी ?—
किसे करती निवेदन
वह प्रणय क्षण ?

रिक्त होता अह, निखिल ब्रह्मांड,—
नभ का नील भांड
कहीं छलकता मोतियों से
प्रेम की वेणी पिरोने ?
शून्य का स्मृति-दंश खोने ?
प्यार कर चरितार्थ होने ?

खोजता किसको भला तब ज्ञान
खोल सहस्र लोचन?
गहन निशि का भेद
सूची-भेद्य तम घन!
भक्ति जप तप ध्यान
करते विफल आराधन!

रहस चुंबित विजन में
कहाँ कँपता बाँह में
कंपित लता सा
लाज किसलय रँगा
कोमल कामना-तन?

तुम न होती तो, प्रिये,
सौन्दर्य के सित चरण छूकर
पार कर पाता कभी मन
सत्य के दुर्जय शिखर?—
तन्मय हृदय
भव सिन्धु पथ तर!

(छः)

शुभ्र लाज में लिपटी
क्यों होती दृग् ओझल ?
प्रकृति,
मुझे तुम ध्यान लीन
आत्मस्थ जान कर !
मैं तो देख रहा तुमको ही,
चित् स्वरूप
उर-आँखों में भर !

निष्क्रिय साक्षी बन
क्या हाय, करेगा आत्मन् ?
अद्वितीय, एकाकी,
अपने में स्थित, निर्जन ! —

प्राण,
तुम्हीं उसकी प्रकाश,
गति स्थिति लय,
जिसके चरणों में तन्मय
सार्थक उसका अपनापन !

खोज रहा था, सुमुखि,
तुम्हारे सृजन-स्वप्न हित
आत्मा की समभूमि,
प्रीति रस द्रवित धरातल,—

अंतर-पथ से उतर—
जहाँ उत्फुल्ल
चेतना का ज्योतिर्मय
श्री-सहस्रदल !

प्रिय,
अनुर्वर विरज स्थाणु को
किसकी पद-शोभा कर
रज अंकुरित निरंतर
रस प्रहर्ष सर्जन के
मुक्त दिगंतों में नित
उद्घाटित करती—
जग में ला स्वर्ण युगांतर !

जीवन मंगल के
अमिताभ झरोखों से हँस
अंतः सुषमा के
प्रकाश पुलकित अरुणोदय
शिवे,
शून्य को बना
सर्व संपन्न,
सृष्टि के क्रम विकास में
यदि नव स्वर-संगति भरते—
क्या विस्मय ?

भाव-लते,
क्या निखिल विश्व मन
नहीं तुम्हारा ही
वैभव भूषित सिंहासन?

शासित करो,
अनन्य तन्मये,
संचालित कर
भू-विकास पथ का संघर्षण!

उर अंतर्मुख हो
कि बहिर्मुख
युवति, तुम्हारा ही अधराऽमृत
पी कर जागृत,—
और कौन?
भू-स्वर्ग लोक में—
आत्मा जिसके प्रति
सर्वस्व करे निज अर्पित!

(सात)

सिर से प्रिय पैरों तक,
नख शिख--
अमिते, तुम्हीं समग्र सत्य हो,
इसे जानता मेरा अंतर!
इसीलिए, ललिते,
जब मैं प्रिय चरण चूमता
मुझको मिलता स्पर्श
कहीं चरणों से ऊपर
उस अंतरतम का
जो प्रीति-स्वर्ग चिद्-भास्वर!

शुभ्र चरण ही क्यों,
जब मैं मुख छिपा गोद में
तुम्हें बाँधता बाँहों में भर--

फूल देह होती लय,
बाँहें भी विलीन--

शेष
उर-तन्मयता ही
रह जाती स्मृति-हीन——

अकूल चेतना सागर
शोभे, करता भाव-मग्न
हम दोनों ही को
निस्तल, निःस्वर !

तुम्हीं बोधमयि,
मेरी अंतः सत्ता हो निःसंशय,
तन मन प्राणों में लय !
मेरी शोभा-प्रियता ही
धर चंद्र-बिम्ब तन
भरती तद्गत रस परिरंभण !

मेरे स्वप्नों के ही स्तवक
उरोज शिखर बन
शंख घोष भरते उर में
रस-निःस्वर, गोपन !

मेरी ही भावाकुलता
बन किसलय-पुट स्मित
मुझे पिलाती
सित अधराऽमृत !

रस-मर्मज्ञे,
तुम असीम सहृदयता वश ही
उदय हृदय में होती
वधू उषा बन,
लज्जानत, श्री मंडित!

इससे पहिले,
बाँहों में भर
मधुर चुंबनों से रँग दूँ मुख,—
शोभा-तन्मय अंतर
हो जाता सुख-विस्मृत!

प्रिये,
तुम्हीं हो प्रकृति पुरुष भी,
युगल मिलन भी,
अमृत प्रीति भी—
जिसके प्रति
मेरा तन मन
संपूर्ण समर्पित!

मुझे तुम्हीं ने
निज शिशु सहचर चुना,
तुम्हीं हो मा,
प्रियतमा, सखी भी,—
एक, अभिन्न, अगुंठित!

(आठ)

स्नेह यह,
सित हृदय-सौरभ
भाव पंखों में
तुम्हारी ओर धावित !

देह पंखड़ियाँ
बसीं रज-गंध में,
पर, देह-रज के यह न आश्रित !

हृदय-स्वर्ण-मरंद-कण हो
सहज साँसों में प्रवाहित
तुम्हें सूक्ष्म अरूप स्पर्शों से
प्रिये, यदि करें वेष्टित,—

या अजाने
मर्म हो रस-भाव स्पंदित,
अंग कँप
आनंद से हों रोम-हर्षित,—

तो समझना,
प्रेम ने स्वर्गिक अगोचर
बाहुओं में बाँध
तुमको वर लिया,—
कर हृदय अधिकृत !

सूक्ष्म से अति सूक्ष्म,
ममते, ज्योति से भी आशु-गति वह
प्राण मन में भींग
करता भाव-मोहित !

देश काल न रोक पाते,
स्वप्न बन, स्मृति बन,
हृदय को हृदय से
तद्गत सतत करता मनोजित् !

कहाँ तुम हो, कहाँ हूँ मैं,
प्रिय उपस्थिति
प्राण करती रस-निमज्जित,—

पहुँचता मन उड़
तुम्हारे पास तत्क्षण,
मिलन-इच्छा से
तड़ित् गति राग-प्रेरित !

तुम कहाँ हो अब परा (ई),
रूप सौरभ हृदय में बस
मुझे करती आत्म विस्मृत,

देह रहतीं दूर स्थित,
तन्मय स्पृहा ही
सूक्ष्म तन धर
गले मिलती
गूढ़ परिचित !

(नौ)

कवि हूँ, प्राण, तुम्हारा,
निज से हारा!

सृजन-कल्पना-कर से
छूता कोमल-अंग तुम्हारे,
फूलों में जो खुलते प्यारे
श्री सुषमा में तन्मय सारे!

सौरभ पीता हूँ अधरों की,
सुधा सरों की,
नव मुकुलों की गंध सूँघ कर,—
ललने,
मेरा हृदय तुम्हारा
स्वप्न-नीड़ भर!

प्राण-सखी तुम,
चूम मौन शोभा-कल्पित मुख
हरने मोह-निशा-पथ का दुख
नयी उषाएँ लाता भू पर
लज्जा मंडित, निःस्वर!

बाँहों में भरने तन
निखिल विश्व शोभा
अंतर में करता धारण,—
गड़ा वक्ष में आनन!

वह तन्मय क्षण,
मौन समर्पण,—
खुल पड़ता उर में
विराट् शोभा वातायन!

मा हो तुम,
मैं दिव्य योनि से
निकला बाहर,
शुक्ति-अंक भर!

शिशु सा
छिपा गोद में निज मुख
भूल भेद दुख,
हृदय-स्वर्ग में
स्वप्नों के पलने में स्वर्णिम
नव जीवन प्रभात में अरुणिम
झूला करता—

साँस साँस में,
रुधिर लास में

अनुभव कर
नव जन्म ग्रहण सुख!

माता,
चरणों को छूता मैं
श्रद्धा आस्था से नत,—
कवि उर अभिमत,
उतरें सित पग
धरा-कमल पर,
जन मंगल का
भू को दें वर!

(दस)

तुम अनंत यौवना लता हो
चित् शोभामय,
मेरे प्राणों के निकुंज में
लिपटी तन्मय !

खिल खिल भाव-प्रबोधों के
मुकुलों में नित नव
मेरे अंतर में भरती
रहती सित विस्मय !

साँसों सँग उड़
सूक्ष्म सुरभि
मधु के मरंद कण
तन मन में भरते
स्वर्गिक
विस्मृति सुख मादन !

मर्म, अधर-मधु-रस हित,
रहता हो न गुंजरित,
स्मरण नहीं
ऐसा कोई
सार्थक जीवित क्षण !

प्रीति चंदिरे,
मूल तुम्हारे
शाश्वत की
आनंद-योनि में,
छाए भाव गगन में
सुषमाओं के पल्लव,—

प्राणों की मरकत छाया से
छवि मांसल तन,
सृजन प्रेरणा में कुसुमित
अंतर्जग-वैभव !

फूलों के
स्तन-शिखरों पर
चिन्तन-श्लथ सिर धर
स्वप्न देखता मैं
भू जीवन के
दिक् सुंदर !—

रूप तुम्हारा खिल
अतिक्रम करता
अरूप को,

शून्य द्रवित हो
बहता उर में
बन रस निर्झर!

कौन सुनहली
जग गुंजार
हृदय में निःस्वर
तुमको करती
श्री साकार
जगत् में भास्वर?

भाव सखी,
तुम कहाँ समा सकती थी मुझमें,—
मुझको ही तुम
तदाकार
कर रही निरंतर!

(ग्यारह)

कौन कह रहा
तुम अरूप हो, निराकार हो?
रूप तुम्हारा निखर
लाँघता, रति,
अरूप - तट,
चित् सुषमा का
ज्योति ज्वार हो!

ध्यान लीन मन में
जगती जब
तुम स्मित वदने,
आभा दशने,
शोभा वसने,
भाव यौवने,
हृदय-कमल पर भास्वर,——

कालहीन दीखता अनंत
प्रणत चरणों पर

शव सा लुंठित निःस्वर,
निश्चल, तदाकार हो!

परम प्रीति तुम,
रूप अरूप एक,
तुमको वर,
जड़ चेतन
सोते जगते
स्मित भ्रू-इंगित पर!—
भेद अभेदों की तुम
तद्गत सत्य-सार हो!

भाव भंगिमा से
श्री शोभा पड़ती झर-झर,
खुलते अंतर में
चिद् वैभव के स्तर पर स्तर!

आर पार संभव?
अकूल अथ-इति का सागर,
प्रीति बिन्दु ही तरी,
भेद पल में जाते तर!—
तुम्हीं भुक्ति में मुक्ति द्वार हो!

अंध गहन भू-निशि,
सूची पथ पाना दुष्कर,—
प्राण, बिना तुमसे पाए
चिद्-दृष्टि ज्योति-वर!
प्रीति सूत्र तुम,
तुम्हीं भाव-मणि, सृष्टि-हार हो!

भू विकास पथ पर
अदृश्य तुम करती विचरण,
समदिग् जीवन में कर
तप रत मौन अवतरण !

प्राप्त कर सके प्रीति-स्पर्श
तुमसे जन-भू मन,
दृष्टि समग्र जनों को दे
उर आस्था नूतन ! ––
हृदय चेतना की स्वर्णिम झंकार––
प्यार हो !
कौन बताता
तुम अरूप हो, निराकार हो !
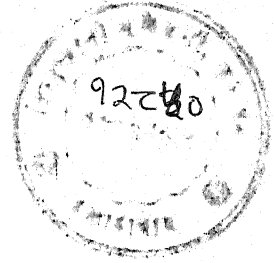
(बारह)

किसकी सुषमा
देह-यष्टि में कर श्री-वेष्टित
प्रकृति, हृदय तुम करती मोहित?

नील कमल?
सरसी उर में
नयनों की शोभा
अपलक बिम्बित——
हुई सदा को अंकित!

चलोर्मियों ने
किससे सीखी
भृकुटि-भंगिमा चंचल?

गूँथ फेन के मोती
लोल हिलोरें उठ-गिर
कभी बजा पातीं
स्वर्णिम-रव पायल?

अनिल हुई
सद्यः मुख सौरभ पी
दिक् सुरभित,
सुरधनु बाँध
शिरीष वेणि में
दिशा स्पर्श-रोमांचित !

उरोभार-से शिखर
उभर आए
भू के उद्वेलित,
रोक नहीं पाई
वह उर-उच्छ्वास
देख घट में
छवि सागर पुंजित !

सरिता

चल पद-न्यास सीखते
अतल उदधि जल में लय,—
सुलभ कहाँ होती
वह पद-गति
धरा-स्वर्ग-क्रम आश्रय !

भाव प्रिये,
तुम धूपछाँह
संसृति-पट में अवगुंठित,
अपने को
तद्गत उर में
चेतना-शिखे,
ऐश्वर्य मौन
करती जाती उद्घाटित !

(तेरह)

रात्रि का एकांत क्षण,
उर-कक्ष निर्जन !

प्रीति पागी
नींद भी जागी
तुम्हारे ध्यान में सो,
मिलन सुख स्वप्न में खो,—
हृदय कवि का भाव-अनुरागी !

विलासिनि,
प्राण उन्मादिनि,
निभृत उर कक्ष में आओ,
न मुग्धे, और बिलमाओ
हृदय सित प्रेम विस्मृति में डुबाओ !

देह में मिल देह हो लय,
हृदय से हो हृदय तन्मय,
प्राण प्राणों से लिपट
आनंद-रस भोगें अनामय !

स्वप्न शयन,
शरीर आत्मिक-स्पर्श सुख भागी!

भाव उन्मेषिनि,
विकासिनि,
उर्वशी सी उतर
भास्वर चेतना नभ से
त्रिदिव सौन्दर्य में लिपटी अनश्वर—

मर्त्य से उठ स्वर्ग तक
सित भावना-रस-श्रेणि
तुम बनती अगोचर!—

शंख वर्तुल
भाव गौर
मराल शावक वक्ष
शोभा-पंख-खोल-तरुण-दिगंतर
मोह लेता कल्पना को
स्वर्ग सुषमा के दिखा
गोलार्ध सुंदर!—
प्राण कैसे हों विरागी?

वधू तन्मयते,
निखिल संशय रहित मन—
रूप वैभव के बिना
होता अरूप अनंत निर्धन!

देह
आत्मा से कहीं
ऐश्वर्य पावन,—
प्रेम को संपूर्ण कर सकती
हृदय मन वह समर्पण!

स्वर्ग ?
रति-शोभा-मुकुर भर,
अमर
शाश्वत
बन प्रणय क्षण,
आत्म त्यागी!
कवि हृदय
रस भाव अनुरागी!

(चौदह)

तुम प्रसन्न उर के
सित प्रांगण में आती हो,
जीवन मन का
जड़ विषाद हर,
मुसकाती हो!

अंतर्मन की
सहज सौम्य स्थिति ही
प्रसन्नता,
होती जिसमें लीन
बहिर्जग की विपन्नता;
प्राणों में
आनंद मेघ झर
बरसाती हो!

क्या प्रसन्नता ?
फूलों का शोभा-प्रफुल्ल मुख,
वे विषण्ण रहते
तो मधुकर होते उन्मुख ?

तुम्हीं मौन प्रेरणा-
गुंजरण भर गाती हो !

बाह्य यत्न से
अंतः शांति
न होती निर्मित,
वह वरदान तुम्हारा,
होती स्वतः अवतरित !

तुम्हीं पूर्णता,
स्वर्ण संतुलन
भर जाती हो !

वधू चेतने,
जड़, अपूर्ण,
जर्जर जग खँडहर,
इसको निज आनंद निवास
बनाओ सुंदर ! ––

तड़ित् स्फुरण बन
तुम अंतर-पथ दिखलाती हो !

काँटों की झाड़ी में
रुँधे फूल सा कोमल
जीर्ण रूढ़ि कृमियों से
विक्षत भू-अंतस्तल!—

जगन्मयी,
जग से अतिशय,
तुम अपने में स्थित,—
जन-भू हो
श्री शोभा मंगल में
दिक् कुसुमित;
ज्योति-गर्भ अरुणोदय
तुम जग में लाती हो!

(पंद्रह)

मरकत घट में
माणिक मदिर
सुधा भर जीवित
मा धरती,
तुझको करता
जीवन - अभिषेकित !

ओ वैराग्य विमूर्छित भारत,
छान बीन कर
मैं समस्त
आध्यात्मिक तत्वों को
चिद् भास्वर—
तेरे लिए सुधा संजीवन
लाया मादक,
तेरे ही चरणों का रहा
पिता, मैं साधक !

यह नव युग अवतरण सत्य
उतरा जो भीतर
स्वर्ण शुभ्र आलोक अमृत से
अंतर-घट भर;—

पूर्ण,—छलकता
सात्विक
रजत ज्वार में बाहर—
अमृत पान कर
अग्नि पान,
ओ मरणोन्मुख नर!

सत्यों की अन्वेषी तू—
यह रस संजीवन,—
ओ प्राचीन भरत-भू,
सित श्रद्धा कर अर्पण,—

तत्व पान कर,
मुक्ति पान कर,
प्रवयस् जर्जर,
काया कल्प समस्त करेगा
यह बहिरंतर!

मरकत-घट पी
जीवन होगा शस्य श्यामल,
माणिक-मदिरा
मनः शिराओं में तेजोज्वल
चित् शोणित
संचार करेगी
ज्वाला स्पर्शी,—

स्वर्ण शुभ्र आलोक
प्रेम का
अंतर्दर्शी
रस समग्र चैतन्य मेरु बन,
भूत जलधि तर
नयी दृष्टि देगा
जग के प्रति !—

जीवन-ईश्वर
विचरण करता
तुझे दिखेगा
फिर जन-भू पर;
सित अखंड रस में लय
दीखेंगे क्षर-अक्षर !

मनुज प्रीति की
सुधा पान कर
मुग्ध विश्व जन
धरा-स्वर्ग
निर्माण करेंगे,—
सृजन प्राण मन !

(सोलह)

तुम्हें सुनहली धूप कहूँ ?—
सित स्पर्श मनोहर !
चंपक तन,
कांचन विनम्र
सौरभ का अंतर !

सखि, अरूप चेतना
भावना
देती हो सुख,
स्वयं चंद्र ही
सौम्य बन गया हो
जिसका मुख—
गौर चाँदनी
ढल कोमल अंगों में
मूर्तित
सूक्ष्म भाव को
इंद्रिय सुलभ
बनाती हो नित—

तब किसको भाएगा
प्राण, अरूप, अगोचर!
किसका स्पर्श
करेगा तन्मय
रोम हर्ष भर!

कहीं रेशमी ज्योत्स्ना
तन की बनती वेष्टन?
स्पर्श तुम्हारा
तन मन को
करता रस-चेतन!

क्या न अरूप
प्रसार
तुम्हारे मधुर रूप का?
व्याप्त धरा में जो जल
वही न वारि कूप का?

भाव वत्सले,
स्वप्न मांसले,
मैं हूँ विस्मित—
तुम्हें देख कर भी
क्या देख रहा मैं
निश्चित?

छूने पर भी
छू पाता हूँ—
नहीं मानता,
तुम अरूप हो
स्मिते, रूप—
मन नहीं जानता !

प्रभे, अरूप
रूप से पर—
रस सम्मोहन में
मुग्ध हृदय
तुमको पाता
तन्मय अर्पण में !

(सत्रह)

सित स्फटिक प्रेम,
मन जिसकी माला जपता,
स्वर्वह्नि प्रेम,
जिसकी ज्वाला में तपता!
रस अमृत प्रेम,
जिसको उर तन्मय पीता,
अहि दंश प्रेम,
रख गरल कंठ में, जीता!

कवि प्रेम-पीठ
जन-भू पर रचने आता,
सह घृणा द्वेष भय दंश
प्रेम-पद गाता!
विश्वास उसे,
जग प्रेम धाम ईश्वर का,
उर आकांक्षी
जन-भू मंगल के वर का!

लटकी अनंत रस रज्जु
ऊर्ध्व अंबर से
चढ़ता वह,
पकड़े श्रद्धा आस्था कर से !
भू जीवन निधि हित
करता वह आरोहण,
बन सके धरा-मन
प्रभु के मुख का दर्पण !

भावना-रज्जु दृढ़,
सत रज तम गुण निर्मित,
सित स्वर्ण रजत सँग
अयस-शूल भी गुंफित !
छिदते रस ग्राही प्राण—
रक्त रंजित तन,
बढ़ता मन अविरत—
सीती प्रभु करुणा व्रण !

पा सूर्य लक्ष्य
प्रेरणा दीप्त कवि का मन
छेड़ता मुग्ध
नव भू-जीवन के गायन !
मांगल्य-धाम हो
मुक्त धरा रज प्रांगण,
भू जीवन मन हों
मनुज प्रीति के दर्पण !

अंतर-शोभा से निर्मित भू
प्रभु का घर,
भौतिक भव हो
आत्मिक वैभव पर निर्भर!

रे प्रथम बार अब
अहं-भाव केन्द्रित नर
सित प्रेम मूल्य की नींव
धरा-रज पर धर

रचता जीवन प्रासाद—
खोल लोकोत्तर
सामूहिक जन-मंगल के
स्वर्ग दिगंतर!

जन-राशि मनुज-गुण हो
भू पर संयोजित—
जीवन समृद्धि हो
बहिरंतर संपोषित!

जो तम का घोर प्रहर
जन साधारण को,
वह नव प्रभात आगम-क्षण
जाग्रत् मन को!

चढ़ता ज्यों मन
झरता भू पर नव जीवन,
हटता चिन्मय के मुख से
मृण्मय गुंठन!

जन-भू ही ईश्वर का आवास—
न संशय,
अन्यत्र न स्वर्ग, न ईश्वर,—
यह रे निश्चय!

निर्माण करें जग का
हम पा प्रभु आशय,
वह प्रेम,—
कृच्छ्र भू-स्वर्ग-सृजन तप में लय!

(अठारह)

फिर उड़ने लगा
सुवर्ण मरंद
चिदंबर से झर,
तन्मय स्पर्शों से
मनः शिराएँ
कँपतीं थर् थर्!

उर देह-भीति से मुक्त,
रोम रस-हर्षित,
ओ भाव मोहिनी,
मन अब पूर्ण अनावृत!

क्या करते कृत्रिम
जप-तप, व्रत, आराधन,
तुम तद्गत सित आस्था पथ से
कर विचरण—

जड़ को छू
नव जीवन में करती चेतन !

स्वप्नों के क्षितिजों में
तुम खोल रही उन्मेषित
नित नए रूप के अंतरिक्ष
अंतः सुख प्रेरित !

उर रूप तुम्हारा धर
नव श्री सुषमा से वेष्टित
होता तुममें लय
रति, समग्र रस अर्पित !

तुम मेरा तन धर कर
मन करती मोहित,
शव बनता शिव
पा शक्ति स्पर्श मृत्युंजित् !

(उन्नीस)

जहाँ जहाँ तुम रखतीं
शुभ्र चरण चल,—
भूतल
वहाँ वहाँ हो उठता, श्यामे,
दूर्वा-श्यामल !
ज्योतिर्मय हो उठते रज कण
तड़ित् स्पर्श से
सूर्य चंद्र बन,—
प्रमे,
कौन विश्वास करेगा
जिसने कभी नहीं जाना हो
स्वप्न-चरण तुम सृजन-भूमि पर
कैसे करती विचरण !

खिलते उर सरसी में सरसिज
रूप सृष्टि गढ़ता सित मनसिज
अर्पित कर तुमको पावक निज !

सृजन चेतने,
स्वप्नों के खुलते
अंतर में स्वर्ग दिगंतर
अप्सरियाँ सी उड़तीं
उन शोभा-शिखरों पर!

गा उठते प्राणों के भुवन अचेतन,
देवदूत चलते
मोहित
मरकत घाटी में प्रतिक्षण!

जहाँ तड़ित् अंगुलि
करती सित इंगित,
वहाँ मौन बजतीं पग पायल
ध्यान-शयित
जगता अंतस्तल!—

नए सूक्ष्म सौन्दर्य भुवन
उर-मंथन से उद्घाटित
प्राणों में हो उठते जागृत,——
भाव बोध संपदा
हृदय में कर रस-वितरित!

संवेदने,
हृदय ही मेरा श्यामल भूतल
सृजन भावना ही दूर्वादल,
रूप प्रेरणा
तड़ित् स्पर्श चल ——

अंतस् ही
युग बोध तरंगित
चित् सरसी जल!

रति सुख प्रीते,
मनो लहरियों में नित
नील चरण स्मित
शशि पद चुंबित
भाव कमल अगणित
अपलक
श्री पद चिह्नों-से
हो उठते प्रस्फुटित--
प्राण कर उपकृत!

(बीस)

प्राणों की सूक्ष्म सुरभि उड़
प्राणों में छा जाती,
तुम अंतर में आती !

शोभा के चंपक मरंद कण
मधुर उपस्थिति से भरते मन,
कौन मौन गुंजार
स्वप्न में सी जग,
क्या कुछ गाती !

बुद्धि भूल जाती भव चिन्तन,
भाव-पंख उड़ते स्वर्गिक क्षण,
उतर उषाएँ
नयी चेतना उर में लिपटातीं !

स्वर्णिम अंकुर-से संवेदन
मन में उगते अंतश्चेतन,
माणिक ज्वाला के चित् जल में
जीवन शोभा न्हाती !

श्रद्धा होती स्वतः समर्पित
नव आस्था से कर उर दीपित,
प्राण,

सवगत तन्मयता जग
प्राणों में अकुलाती !

निखिल विश्व मन को कर अतिक्रम
अपने ही में स्थित, चिर निरुपम,
मुक्त परात्पर हर्ष, शांति
तुम रोओं में बरसाती !

एक बार पा स्पर्श परात्पर
अनघ विद्ध हो उठता अंतर,
प्रीति,

साथ तुम क्षर, अक्षर, पर,—
रति प्रिय मति न अघाती !

(इक्कीस)

प्रिये,

तुम्हारी स्मृति आते ही
स्वर्णोज्वल चित् लोक
हृदय में होता मुकुलित,
तन्मय कर सित अंतर!

झर पड़ते मन के सुख दुख व्रण
मधु-आगम में झरता ज्यों
हिमवन का पतझर!

धुल जाती मन से
जग की रज,—
ह्रास निशा में जो जग निद्रित,
हृदय मुकुर में
श्री शोभा अम्लान
सहज हो उठती बिम्बित!

मेघ पटल से निकल चाँद
ज्यों इंद्र धनुष मंडल स्मित
लगता शोभित,—
सूक्ष्म भाव किरणों से विरचित
मूर्ति तुम्हारी
करती उर आलोकित !

अंतर्मन की सित प्रतीक तुम
बहिर्जगत में
अभी स्थूल छायांकित,
लगता
एक अखंड श्रेणि में
भू जीवन में होगी
स्वर्णिम सर्जित !

रस चैतन्यमयी,
तुम चंद्र-तरी हो,
जिसमें तिर मेरा मन
ज्ञान नीलिमा नभ अनभ्र क्षण भर में,
वहाँ पहुँचता ध्यान लीन
सित प्रीति स्वर्ग में
जहाँ वास करती तुम
निस्तल,
प्राण, सुधा सागर में !

परा चेतने,
तन मन प्राणों में
बिखरे वैभव ही से जो
प्राज्ञ तुम्हारी प्रतिमा करते अंकित,
बाह्य ड्योढ़ियों ही में फिर वे
मंदिर का अनुमान लगाते,
गढ़ते मूर्ति
बहिर्वैभव पर विस्मित !

शशि शेखर स्मित कंगूरे की
झलक देख भी लें यदि
विद्या-गर्वित,——
ओ हिरण्य सौन्दर्य रश्मि गुंठित,
जब तक, जन का अंतर हो
नहीं तुम्हारे
तन्मय स्पर्शों से रोमांचित,
स्वयं तुम्हीं साकार रूप धर
हो जाओ न हृदय में तद्गत अंकित !

तब तक, अतिमे,
जग की भूलभुलैया में मन
भटका करता
बाह्य सिद्धियों प्रति आकर्षित——
हो पाता न भाव-रति विस्मृत
चरणों पर
सर्वस्व सर्मापित !

हे अंतर्मयि,
जीवन मन के सभी स्तरों पर
स्पर्श पा सके हृदय तुम्हारा
सतत तुम्हीं में तन्मय—
लय हो अहं रचित जग सारा,—

भू जीवन को सूर्य-दिशा दे
जन प्रांगण में
उतरे नव अरुणोदय!

(बाईस)

किस असीम सुषमा के
स्वप्न-ग्रथित अंचल में
प्रिये, लपेट लिया तुमने मन !

द्रुपद सुता का चीर
रेशमी मसृण स्पर्श की
सूक्ष्म प्रेरणा से पुलकित कर
अंतश्चेतन,
सर्जित करता
नव रूपों भावों के वेष्टन !

ज्यों प्रभात, मुख स्मिति से
जग की निखिल वस्तुएँ
हो उठतीं श्री शोभा मंडित——
बदल विश्व ही जाता मेरा
स्वर्ग चेतना से हो दीपित !

अयि इंद्रिय सुलभे,
ये इंद्रिय भुवन
स्वर्ग के रस-पावक से प्राण-प्रज्वलित
दृश्य गंध रस स्पर्श शब्द की
भाव श्रेणियाँ करते नव उद्घाटित !

सौरभ से आकृष्ट
तुम्हारे सित भुवनों की
निखिल सत्व ही
स्वर्ण भृंग सा मर्म गुंजरित—

नव जीवन-मंगल का मधु
संचय करने को
मुझे तद्गते,
करता प्रेरित !

रस वसंत नव आया !
प्राणों में सोई समीर जग
अंतर करती गंध उच्छ्वसित !

जल स्थल नभ में
नया भाव सौन्दर्य
हो उठा ज्वाल-पल्लवित,
चित् मरंद-से
नए सूक्ष्म संवेदन के स्वर
व्याप्त मर्म में पुलकित !

जन प्रतीति चेतने,
हृदय के सित प्रहर्ष
सौन्दर्य लोक में
मानव मन हो जागृत--
पतझर वन सी
झरें विकृतियाँ बहिरंतर की,
प्राण मनस हों संस्कृत!

प्रिय दर्शिनि,
भू की कुरूपता मिटे,
इंद्रियाँ तन्मात्रा हों विकसित--
तुमसे रह संयुक्त
मनुज जीवन हो पूर्ण,
समृद्ध, अखंडित!

(तेईस)

प्रिये,

अदृश्य चरण चाप सुन
भू होती तृण रोम प्ररोहित
तो विस्मय ? —
जड़ रस-चेतन,
जीवन-शव होते
पद छू जीवित !

अंचल सा फहरा समीर
हो उठता आत्म-बोध-रज सुरभित,
कौश मसृण स्पर्शों से
पर्वत कंपित,
सागर चंद्र-तरंगित !

खिच अंगों की भाव गंध
मन हो उठता भृंग गुंजरित,
प्राणों में
स्वर्गिक सम्मोहन से
होता संगीत प्रवाहित !

आत्मशीलमयि,
शोभा-बाँहों में बँध अंतर
हो उठता रस-तन्मय, विस्मृत——
वह सित विस्मृति मुझे
सूक्ष्म आनंद-लोक में
करती जागृत !

बदल विश्व-पट जाता तत्क्षण ! ——
विहग मधुप गाते उन्मेषित
लहरें मणि-पायल कर झंकृत !
चंद्रलेख मस्तक पर शोभित,
उषा लालिमा हो उठती
कौमार्य-लाज से मंडित !

काम पान कर
अग्नि मदिर
पावन अधराऽमृत
विश्व सृजन स्वप्नों में
रहता व्यस्त अतंद्रित !

प्रीति-लाजमयि,
इंद्रिय तुमको ही पातीं
रस गंध स्पर्श में——
बुद्धि तुम्हें ही
भावों में, चिन्तन विमर्श में !
अंतःस्थित तुम रखतीं मन को
शोक हर्ष में !

अंतर्युवति,
नया ही मानव बन
जगता मैं
तुममें ध्यानावस्थित,
उर
निःसीम शांति में मज्जित,——
सार्थक स्वर-संगति में बँधता
भू जीवन
संघर्षण - मंथित——
तुमको अर्पित !

(चौबीस)

कुछ भी नहीं यथार्थ-जगत् में
तुमसे अकलुष, मोहक, सुंदर,
किरण-तन्वि, चेतना स्वर्ण से
विरचित शोभा-सूक्ष्म कलेवर!

भय संशय हो जाते अवसित,
इच्छाएँ तुमको पा उपकृत,
स्वर्ग धरा में जो कुछ भी प्रिय
भाव-तरुणि, तुम उससे प्रियतर!

नहीं जानता, प्राण, कौन तुम,
जगती उर में ध्यान-मौन तुम,
श्री सुषमा में तन-मन मज्जित
रस तन्मय करती नत अंतर!

तृप्त देह-रज, रोम प्रहर्षित,
भाव-जगत् चित्-स्पर्श संतुलित,
स्वर संगति में बँध-से जाते
अंतरतमे, समस्त चराचर!

भीतर से तुम समधिक बाहर
सक्रिय रखती भू-जीवन-स्तर,
नव विकास क्रम को गति देती
विश्वरूपमयि, काल-सिन्धु तर!

मन बाहर विचरे या भीतर
पूर्ण निछावर हो वह तुम पर,
शिव से शिवतर निखर भावना
भू-मंगल-रत रहे निरंतर!

(पच्चीस)

सुधा सिन्धु में रहती हो तुम
मुझे न संशय,
प्राण, उपस्थिति से ही
उर का कलुष गरल गल
जीवन मंगल में
परिणत हो जाता मधुमय !

पुराकाल में हुआ
अमृत विष का जब वितरण
शिव को
विष को पड़ा कंठ में करना धारण ! —
रहे पृथक् ही अमृत गरल
दो तत्व सृजन के—
तुमने रूपांतरित उन्हें कर
जन-भू मन में
दिया विश्व को अंतरैक्य का
परम रसायन !

कल का अमृत गरल बन
गरल अमृत संजीवन
भव विकास का, गौरि,
बन गया श्रेय संचरण !

विगत राशि गुण, महत् क्षुद्र घुल,
पाप पुण्य धुल,
भू श्री शोभा गरिमा में
होते रूपायित,—
ज्योति स्पर्श पा,
जीवनमयि, कर आत्म उन्नयन !

क्षमे,
अनंत तुम्हारी बाँहें
अग जग विस्तृत,
नख शिख
आत्म नील तुम,
केवल प्रीति अपरिमित—
रवि शशि दृग,—पथ करते दीपित,
उडुगण हार वक्ष पर शोभित !

मैं हूँ विस्मित !—
क्यों भारत
युग युग से आत्मज्ञान से प्रेरित
युग युग से श्रेयस् प्रति अर्पित,
आज, अर्ध-संस्कृत जग का कर
अंध अनुकरण
हाय, खो रहा निज गौरव धन !—

क्यों न पुनः विष पी जन-भू का
युग सागर से मंथित—
अमर प्रेम की बाँहें खोल
नहीं समेटता भू-जीवन को
(जो बहु भेदों में खंडित!)
अंतर्विरोध कर प्रशमित!

उसे नम्र रहना,—
विनम्रता आत्मा का गुण,
भू संकट सहना,—
जनगण हित अंतर्पथ चुन!

मनुज प्रीति में उसे बाँधना
युग-भू-जीवन—
निज दिग् भ्रांत निकट देशों के
पूज घृणा व्रण!

अणु से कहीं महत्
आत्मा का बल निःसंशय,
(वह ध्वंसात्मक,
यह रचनात्मक)—
सर्व प्रेम ही
चिन्मय आत्मा का गुण निश्चय!

वही श्रेय की शक्ति,
उसी की अंतिम दिग् जय!
दृढ़ आस्था रख
जन हों निर्भय!

(छब्बीस)

सूक्ष्म गंध फैली अंबर में !
मधुर प्रणय की भाव-वेदना
अँगड़ाई लेती अंतर में !

बसी सुरभि तन मन प्राणों में
फूट रही तन्मय गानों में,
बाहर भीतर व्यथा सुनहली
छाई कोकिल मधुकर स्वर में !

उमड़ा प्रेम वह्नि का सागर
तपते सुख में चंद्र दिवाकर,
ज्योति सूत्र तुम—
गुँथी अगोचर
स्वर्ग मर्त्य में, क्षर अक्षर में !

खुलते रूप-दिगंत नयन में
स्वप्न-भुवन बहु विस्मित मन में,
भाव तड़ित् सी प्राण-जलद में
लिपटी तुम उर के स्तर स्तर में !

छाया बहिरंतर संघर्षण
आंदोलित जग का उपचेतन,
आया भू मानस मंथन क्षण——
व्याप्त वेदना सचराचर में !

बहिर्भ्रांत युग-मानव जीवन
भय संशय से जन मन उन्मन,
गहन व्यथा-तम बन ठहरी तुम
अरुणोदय के प्रथम प्रहर में !

सूक्ष्म गंध में मज्जित अग जग,
स्वप्नों से चिह्नित जन-भू मग,
दौड़ रहीं रस माणिक लपटें
जन जीवन की लहर लहर में !

भाव व्यथा से, परमे, निखरो,
रूप सत्य बन भू पर विचरो,
स्वप्न तरी तुम,
पार लगाओ
युग-मन वस्तु-तमस-सागर में !

(सत्ताईस)

बाँधे चित् सौन्दर्य सिन्धु
सित बाहु पाश में,
तुम रस मज्जित करती अंतर!
स्वर्ण हंस भरते उड़ान
उर अंतरिक्ष में—
जीवन शोभा
पड़ती झर झर!

सत्य स्वतः ही भाव रूप धर
तुममें होता शोभा-गोचर,
प्रीति तन्मये,
रस प्रहर्ष का स्पर्श
प्राण तन मन लेता हर!

रौंदे इंद्र धनुष तृण चुन कर
कला नीड़ रचना हो सुखकर,
बिना तुम्हारी दृष्टि-रश्मि के
चित्र बिम्ब स्वर
आडंबर भर!

फिर भी प्रिय पगध्वनि सुन प्रेरित
जो अरूप छवि कर छायांकित
भू पथ करते शोभा दीपित––
उन्हें सहज मन देता आदर!

बरस रहा आनंद अपरिमित,
तन मन स्वर-संवेदन पुलकित,
स्वर्णिम अंकुर सी तुम शोभित
प्राणों की भू में रस उर्वर!

हृदय-सत्य की शोभा - प्रतिमे,
सित अंतर प्रहर्ष की अतिमे,
उतर रही तुम स्वर्ग उषा सी
दीप्त भाल पर चंद्र रेख धर!

स्वप्न-सेतु रच भाव-मनोहर
विचरण करती बाहर भीतर––
वितरण कर तुम चिद् रस संपद्
धरा स्वर्ग को बाँध परस्पर!

(अट्ठाईस)

स्वर्ण तार सी
कौन चेतना
द्यावा पृथिवी में रस गुंफित ?—
मर्म प्रीति के
अमृत स्पर्श से
आज हो उठी उर में झंकृत !

तन-मन के मूल्यों में सीमित
जन भू जीवन जर्जर खंडित,
जुगनू बन
चिन्मणि किरीट रवि
अंधकार क्षण
करता वितरित !

बल पर्वत
रज कण बन
लुंठित—

रस समुद्र
अंजुलि पुट गुंठित;
तृणवत् नत
हत सत्पौरुष वट
रेंग रहा
कर्दम में कुत्सित!

स्वर्ण किरण
छू कर जन भू मन
भय संशय
तम में जाती सन;
वस्तु रूप ही सत्य,
देह रज
आत्मा को करती संचालित!!

पक्ष-घात पीड़ित मानव मन
सत्य न अब कर सकता धारण,
पंगु आत्म पौरुष
लँगड़ाता,
रस अतृप्त, भव-तृष्णा-मर्दित!

भले विफल हो
सूक्ष्म भाव-श्रम
बढ़ता शनैः
जगत् विकास क्रम,—
असफलता ही
लक्ष्य-सिद्धि की
प्रथम सफल श्रेणी—
यह निश्चित!

ज्ञात मुझे,
तुम सार सत्य सित
बिम्ब जगत्
तुम पर अवलंबित;
करवट लेती विश्व चेतना,
एक वृत्त
होने को अवसित!

इसीलिए
स्वप्नों से स्पंदित
कवि रस मानस
आज अतंद्रित—
भू मंगल मधु संचय करने
स्वर्ण भृंग
उर-भाव गुंजरित!

(उन्तीस)

भावों की बँट
सूक्ष्म रज्जु सित
बाँध रही तुम जन-भू मन को
स्वर्ण ऐक्य में,
प्राण, अपरिमित!

गूँथ हृदय स्पंदन स्त्री-नर के
भेद चूर्ण कर बहिरंतर के,
रस स्वर्णिम चेतना ज्वार में
भू मन के तट
करती प्लावित!

देह भावना रज में सीमित
राग चेतना मुख अवगुंठित,
सूर्य-स्पर्श से प्राण-पंक में
प्रीति पद्म,
तुम करती विकसित!

श्री सुषमा के स्वर्ग दिगंतर
खोल हृदय में सित चिद् अंबर,
तुम जीवन का मृण्मय आनन
नव प्रकाश से
करती मंडित !

कौन अनाम सुरभि उड़ गोपन,
जाने तन्मय करती तन-मन,
देह प्राण मन की सीमाएँ
रस प्रहर्ष क्षण में
कर मज्जित !

स्वप्न क्षितिज करते दृग विस्मित,
भाव स्पर्श प्राणों को पुलकित,
युवति, सुनहले संबंधों के
प्रीति सेतु
तुम करती निर्मित !

उर के बिखरे सूत्र सँजो कर
भाव श्रृंखला गढ़ तुम दृढ़तर
अहं-मग्न जन कूप वृत्ति को
प्रीति स्पर्श से
करती विस्तृत !

मनुज-सत्य ही जीवित ईश्वर
जिसे प्रतिष्ठित होना भू पर,
राग चेतना के विकास पर
भू जीवन विकास
अवलंबित !

(तीस)

तुम मेरी हो,
हाँ, सचमुच मेरी हो!
विस्मित मत हो,
सखी रूप में
तुम समग्र मेरी हो!

मुझे अधूरा कम ही भाता,
हृदय पूर्णता के प्रति जाता!
तुम्हें प्यार करता मैं मन से,
हृदय-सखी तुम, बड़ी बहन से!

देह प्रीति से
यह रति ऊपर,
धीरे ही आस्था होगी
तुमको चिद् गति पर!

निज मन में मेरे सँग रह कर
शुभ्र भाव लहरों में बह कर
संशय रहित करो निज अंतर!

स्वर्ग ज्योति का सित वातायन,—
खोल रुद्ध भू-मन में नूतन,
भू विषाद मैं हर जाऊँगा,
नयी चेतना बरसाऊँगा!
युग संघर्षण के
जन उर व्रण भर जाऊँगा!

आधा धूम तुम्हारे मन का
मिट जाएगा—रज-भय तन का!
शत प्रतिशत भय संशय
तब होगा निर्वासित
जब सामाजिक स्तर पर
प्रेमा होगी स्थापित!

भू-विकास की संप्रति जो स्थिति
मन से केवल सख्य प्रीति को
मिलनी स्वीकृति!

जीवन स्तर पर पीछे होगा
बोध प्रतिष्ठित
जब भू मानव
होगा संस्कृत!
शक्ति पात से
मनः शिराएँ होंगी झंकृत,
हृदय
नयी स्वर्गिक शोभा-गरिमा से स्पंदित!

निष्क्रिय शुष्क विराग मिटेगा
जीवन मन का,
सृजन-हर्ष से प्रेरित होगा
उर जन जन का!

सूक्ष्म तड़ित् से जाग्रत् होगा
निद्रित अंतर,
सक्रिय होंगे भू जीवन के
बहिरंतर स्तर!

रह पाएगी नहीं
मनुज के प्रति विरक्ति तब
धरा प्रीति में परिणत होगी
मूर्त भक्ति जब!

रहे देह में क्यों मन सीमित?
खुलें भावना के दिगंत——
आत्मिक ऐश्वर्यों से
आलोकित!

भू जीवन चेतना अनंत,——
न पिंजर बद्ध रहे भू मन
पति सुत परिजन से ग्रसित
देह भय पीड़ित!

प्रीति ग्रथित हों भू नारी नर
काम तमस के कूप से उबर!

विश्व विकास स्वयं क्या होता?
बीज आप्त नर उसके बोता!
जो विकास ध्वज-वाहक होता
वह भू जीवन साधक होता!

ईश्वर मुख से होता परिचित,
सित चैतन्य स्पर्श से दीपित!
प्रभु से ही पा वह सित इंगित
गुह्य बोझ से मंथर-गति नित——

नयी दिशा देता जीवन को,
संयोजित कर
विघटित मन को!

कवि होता सम्राट् न
वह सेना अधिनायक,
होता सित चित् रस चातक,
जन भू उन्नायक!
नहीं बदलता वह जीवन को,
मात्र दृष्टि भर देता जन को!

दृष्टि?—चेतना जो नव,
चुपके पैठ हृदय में
विकसित होती शनैः
नए युग अरुणोदय में!

भाव-पल्लवित-पुष्पित होकर
उर में स्वर्णिम चित् सौरभ भर
श्री शोभा मांसल करती वह
गत जीवन-वन पतझर!

इसीलिए,
चाहता प्रीति की शुभ्र पीठ बन
हृदय ज्योति का करो
देह-रज पर आवाहन!

(इकतीस)

कैसी किरणें बरस रहीं
जाने किस नभ से,
प्रिय-श्री पाटल का मुख
फालसई आभा से
दिखता परिवृत !
शुभ्र कुंद कलियाँ
स्वर्णिम हँसमुख मंडल से
लगतीं शोभित !

किस प्रेमी ने
प्यारी पत्नी के बिछोह में
प्रिय शोभा श्री
भू पलकों पर करने अंकित
स्मृति-पाटल को जन्म दिया
स्वर्गिक मुख सुषमा से कर भूषित ?

फूलों की पंखड़ियों से रच
अमर काव्य सित,
वानस्पत्य जगत् कर
स्वर्ग मुकुट से मंडित !

विश्व युद्ध को अर्पित
इसका शांति नाम
बरसाता उर में
शांति अपरिमित !

अब समझा,
ये किरणें
शुभ्र प्रेम की किरणें
बरस रहीं चेतना स्वर्ग से
जन-भू का मन वरने !

हृदय चेतने,
सूक्ष्म तुम्हारे अमृत स्पर्श से
हो उठता रज का रूपांतर,
तृण तरुओं के जग से भी
स्वर्गीय दीप्तिमा पड़ती झरझर !
—निर्मम रह सकता उसके प्रति
कब तक मानव अंतर ?

शांति चंद्रिके,
एक सांस्कृतिक सूर्य
अस्त होने को निश्चय,
तुम्हें, कलामयि, दे
निज उर सिंहासन सविनय !

अभी न उस पाटल ने
जन्म लिया जन-भू पर——
जिसकी स्वप्नों की पलकों पर
अमर प्रीति की पंखड़ियाँ खुल
अंतः सुंदर——

सुधे,
तुम्हारे रसैश्वर्य के
स्वर्ण दिगंतर
खोल सकेंगी जन मन में——
जग को उपकृत कर!

अंतः शोभा का विस्फोट
श्रवण कर निःस्वर
जाग उठेगा सोया
आत्मा का रस अंबर!

तभी सृजन-उर्वर भू-रज पर
पूर्ण शांति लेगी सित जन्म
मूर्त कर तुमको——
नश्वरता ही में
अविनश्वर!

'पीस' नामक रोज़ से प्रेरित।

(बत्तीस)

कितनी दया द्रवित लगती तुम
मातृ प्रकृति बन,
मेरी त्रुटियाँ
उर में करती रहतीं धारण!
उन्हें शनैः कर स्नेह-निवारण!

दोषों में गिर
दोषों से फिर उठे प्राण मन,
दोषों ने ही किया
विमाता बन
मेरा ऋण लालन-पालन!
दुर्बलताओं से ही मैं
नित शक्ति खींच
बढ़ सका निरंतर—

प्राण, डूबने दिया न तुमने
बन असीम सहृदयता-सागर ! —
चिर कृतज्ञता से
बरबस ही
आँसू पड़ते झर झर !

क्या मैं शिशु से
कभी प्रौढ़ बन पाया ? —
स्मरण न किंचित् !
मा, तुमको करनी थीं
कितनी सेवा अर्पित ! —

पर, मैं फिर अब
वृद्ध बाल बन
तुम्हें पुकारा करता प्रतिक्षण !

ओ अनंत यौवने,
तुम्हीं नव स्तन्य दान दे
मुझमें
नव मानव आत्मा का करती पोषण !

गाता मेरे शोणित में
वह स्वर्ग स्तन्य बह,
शोभा ज्वाला में
न्हाता रहता उर रह-रह !

जी करता,
मन का प्लावन
धरती पर छाकर
अतल निमज्जित कर दे
मनुज क्षुद्रता दुस्तर,
युग युग का
किल्विष विषाद हर !

जन भू जीवन मंगल स्वप्नों से ही प्रेरित
अंतरतम में
नया विश्व मैं करता निर्मित,—

दोष शुद्ध हो जहाँ न भले
मनुज का जीवन,
भाव शुद्ध हो
पर, मानव मन !

दोष प्रगति-सोपान शनैः
बन जाते सुखमय,
अनघ-स्पर्शमयि,
जो अंतर तुममें रस-तन्मय !

(तैंतीस)

तुम्हें ज्ञात ही,
कभी न मन में आया
मैं हूँ मातृ-हीन,——
दारा सुत दुहिता
सखी प्रेमिका से भी वंचित!

रहा सदा उर भाव लीन——
मा, तुम्हीं ज्ञात अज्ञात रूप से
पूर्ति प्रेम की करती रही
हृदय में हो स्थित!

अब लगता
पत्नी संतति प्रणयिनी
सखी——सब मात्र
प्रीति के लव स्फुलिंग भर!

तुम निःसीम प्रेम-पावक-घन,
जिसकी चिनगारियाँ नगण्य
सूर्य, शशि, उडुगण ! —
दिशा काल मुख
जिनसे भास्वर !

सब अभाव भर दिए
रिक्त कवि उर के मेरे
तुमने, अतुले,
भाव मनोरमता में मूर्तित !
अमित प्रीति की बाँहें घेरे
रहीं मुझे—अंतर कर पुलकित !

जिसे स्पर्श मिल चुका
तुम्हारी अमृत प्रीति का
एक बार,
उसको मा,
छाया ही सा फीका, नीरस
लगता असार संसार—
सार जिसकी तुम निरुपम ! —
स्वयं विलय हो जाता
अहं-रचित जग का भ्रम !

और प्यार ?
वह बन प्रकाश मणि द्वार
खोलता नित अनंत
शोभा दिगंत
दृग सम्मुख,
दृष्टि स्वतः ही खुल
होती अंतर्मुख !

कितनी शोभाओं में तुम
चलती जन-भू पर!
कितने मीन नयन, किंशुक नासाएँ,
किसलय अधर, कपोल मुकुर-से
भाव मुग्ध रखते अंतर—
शिशु हंस वक्ष, कृश कटि
मांसल अवयव-शोभा-संगति भर!

खुल पड़ता मन मंजूषा का वेष्टन,
हीरक मणि सी हृदय मध्य स्थित
करती तुम अग-जग आलोकित,—
लगता,
तन मन मात्र आवरण,
तुम्हीं वास्तविक सत्य, स्वधे,
जिस पर जीवन अवलंबित!

(चौंतीस)

पग पग पर
मुझसे त्रुटि होती!
सूक्ष्म चेतना क्षेत्र,
स्थूल मति,
निज विवेक बल खोती!

ज्योति-स्पर्श उर करता तन्मय,
देह-भाव-तम उपजाता भय,
पंगु बुद्धि,
संशय द्वाभा हत,
व्यथा-भार भ्रम ढोती!

मूल्यों का संकट युग-भीषण,
कौन करे जीवन निर्देशन—
आत्मा, मन या रज-तन—
बंदी हृदय-चेतना रोती!

प्रिये, हृदय जब तुममें तन्मय
तन मन आत्मा एक असंशय,
उर्वर जीवन रज में तुम नित
नव प्रकाश-कण बोती!

आत्मा के प्रतिनिधि स्त्री-नर सित
देह बोध में रहें न सीमित,—
अनघ प्रीति में बाँध देह-मन
तुम रज कल्मष धोती!

भाव शुद्ध हो मनुज रज हृदय
ठहरा नव जीवन अरुणोदय,—
उदय हृदय में होती जब तुम
देह-भावना सोती!

राग चेतना का भव सागर
तुमुल तरंग मथित जन अंतर,—
रजत-सीप उर-प्रणति,
स्वाति जल प्रीति,
हँसे चित् मोती!

(पैंतीस)

दृष्टि मुझे दी, प्रभे,
देखता हूँ मैं जग को! —
वक्र भुजग-से
युग भू जीवन
क्रम विकास मग को!

व्यक्ति न अब,
जन विविध शक्तियों के
प्रतिनिधि भर,
भूत-भविष्यत् में रण,
गुंठित स्वर्ण युगांतर!

कैसा वितरण
विश्व शक्तियों का! —
जग की विधि!
उद्वेलित आमूल,
गरजता
क्रुद्ध भव-उदधि!

कृमियों-से रेंगते मनुज
पद-दलित प्राण-मन,
भौतिक तम में
बहिर्भ्रांत
संप्रति भू जीवन!

भोग लालसा मद विस्मृत
जीवात्मा का कण,
शासित करता
अंतर को
आवेश अचेतन!

कौन वनस्पति
पशुओं का जग
आज सँजोए?

मनुज प्रेत
जब स्वयं
मृत्यु निद्रा में सोए!

नहीं जानता,
अणु हुंकार
भरेगा भू मन

या तुम ला
जन भू जीवन में
आत्म संतुलन—

श्रेय प्रेय में
स्वर संगति भर
तम-भ्रम मोचन

क्षुधे, करोगी जन मंगल,
श्री सुख संवर्धन!

एक हाथ में
आणव ध्वंस,—
अपर कर में धर
नव चैतन्य सुधा घट,
स्मेरमुखी,
हँस निःस्वर—

तुम भंगुर तम का करती
तम ही से भंजन,—
नव प्रकाश का
फहराए
जग में जय केतन!

स्वप्न तरुणि हे,
देख रहा मैं,
उठती जन-भू,
झुकता अंबर,
नव स्वप्नों के
पग से कंपित
युग नर अंतर!—

बाह्य ध्वंस पट में
अंतर्मन करता सर्जन,
बदल रहे जन,
बदल रहा भू-मन,
भव जीवन!

(छत्तीस)

आज सभी कुछ जग में—
विद्या विभव विलास अपरिमित
सुख सुविधा साधन बहु इच्छित,
शशि मंगल ग्रह पथ भी अर्जित—

मानव उर में
किन्तु शांति संतोष न किंचित्!
सुलभ सभी कुछ—
कहीं नहीं तुम
स्वल्प हृदय कोने में भी
मा, प्राण-प्रतिष्ठित!

आज तभी तो
दृष्टि हीन विज्ञान ज्ञान,
निष्प्राण, विरस, सौन्दर्य म्लान!—
मानव-कर अर्जित
स्वर्ग साधनों का मणिहार
भुजग बन विषधर
डँसता जग को
दर्प स्फीत—फुंकार मार!

जन मांगल्य न विश्व बोध में,
सांगिकता ही सत्य-शोध में,
हीन भावना, क्षीण प्रेरणा !—
ऐक्य संगठित यदि—
विरोध में !

तुम्हीं नहीं जब,
विजय हर्ष क्षण
सकल पराजित
विफल क्रोध में !

विद्युद् दीपित बाह्य विश्व-पथ,
रुद्ध तमस से आत्मा का रथ,—
हृदय ज्योति के बिना
मिले भी कैसे
जीवन-सागर इति-अथ !

हार गई हत बुद्धि
फेन मथ,
व्यथा अकथ,
युग जीवन विश्लथ !

बिना लवण के
षड् व्यंजन क्या ?
बिना अजरता
संजीवन क्या ?
बिना तुम्हारे
मर्त्य ही नहीं
प्राण, स्वर्ग का भी प्रांगण क्या !

सूर्य नहीं करता जग ज्योतित,
नहीं चंद्र ही शीत रश्मि स्मित,—
बुद्धि प्राण तन मन जीवन की
तुम्हीं सृष्टि-स्वर-संगति जीवित !

निखिल सत्य की सत्य,
ज्योति की ज्योति,
हृदय में चिर अंतर्हित !—
तुम्हीं जगत् में नहीं प्रतिष्ठित,
सभ्य जगत् में कहीं प्रतिष्ठित !

(सैंतीस)

जिस भू पर
पगध्वनि न तुम्हारी
हो प्रतिध्वनित,
विस्मय क्या,
वह आग्नेयों से
हो रण गर्जित!

यह भौतिक जग
मृद् घट भर जो कुंभकार का,
घृणा पात्र वह बने,
बने या भुवन प्यार का?—

घट घट में
गुरु प्रश्न हो रहा मौन गुंजरित,—
कौन अभाव मनुज में,
कहाँ सभ्यता खंडित!

स्रोत रुद्ध कर
भरा रहेगा कहीं सरोवर?
अमृत स्रोत तुम,
जड़ जग केवल मृत संचय भर!

पा नित सित चित् स्पर्श तुम्हारा
भव-शव जीवित,—
बहिर्भ्रांत जग
हृदय ज्योति वंचित
जीवन-मृत!

तुम्हें देख कर
अंध तिमिर बनता प्रकाशमय,
तुमसे रहित प्रकाश
तिमिर पर्याय,—न संशय!

बुद्धि प्राण तन मन ही में
युग मानव सीमित,—
हृदय हीन,
आत्मा के स्वर से
निपट अपरिचित!

आत्मा नहीं प्रकाश साक्ष्य ही,
सक्रिय प्रीति अपरिमित,
सूक्ष्म सूत्र वह,
बुद्धि प्राण मन जिसमें गुंफित!

वह प्रभु प्रतिनिधि हृदय ज्योति,
एकता मूर्ति सित,
प्राणारोही बुद्धि अशुभकर
अहं विभाजित !

जिस भू पर
सित पगध्वनि
अंध अहं-पद मर्दित,
वहाँ अमंगल
लोक-ध्वंस ही
संभव निश्चित !

(अड़तीस)

नाच, मन-मयूर नाच,
प्रलय-घटा छाई,
विद्युत् असि क्रांति ज्योति
उर में लहराई!

तोड़ विश्व तमस पाश,—
जीर्ण शीर्ण हो विनाश,
प्राणों ने क्रुद्ध
युद्ध दुंदुभी बजाई!

तन मन में लगी आग,
जाग, रुद्ध शक्ति, जाग,
दौड़ रही भाव तप्त
रक्त में ललाई!

ऊर्ध्व दृष्टि खुले व्योम,
जगें सूर्य, जगें सोम,
हँसें रोम ज्योति-स्फीत
तम ले अँगड़ाई!

जीवन मुख हो प्रसन्न,
धान्य-धन्य जन विपन्न,
धरा-स्वर्ग मनुज-दाय,
प्रकृति की दुहाई!

सदसत् में हार जीत,
डर न जन्म-मृत्यु भीत,
ज्योति अंधकार बीच
छिड़ी फिर लड़ाई!

प्रीति-स्पर्श पा ललाम
शून्य पुनः सृजन-काम,
लीलामयि का विलास——
तम प्रकाश भाई!

(उन्तालीस)

और उज्वल, और उज्वल,
और भी उज्वल बनाओ,
पंक तल में मूल,
अंतस् कमल
चिद् नभ में उठाओ!

प्राण-सरसी, रति-तरल जल,
तिरें ऊपर भावना-दल,
मधु मरंद सुगंध स्वर्णिम
हृदय पंखड़ियाँ खिलाओ!

नयन अपलक तकें प्रिय मुख
ऊर्ध्व अंबर ओर उन्मुख,
भव-निशा, तंद्रिल हृदय में
प्रीति-मधुकर स्वर जगाओ!

रश्मि-कर से दीप्त प्रहसित
प्राण मन तुमको समर्पित,
धरा पंकज पर उतर
भू-स्वर्ग सिंहासन बसाओ!

सूर्य-उर में, प्रिये, तुम स्थित
चाँदनी सी शील-कल्पित,
स्पर्श से कर मर्म पुलकित
नव विकास दिशा दिखाओ!

(चालीस)

कितनी सुंदर हो तुम,
शोभा के मंदिर सी,
स्वप्नों के
सुकुमार अजिर सी,
चंपक फूलों के
तनु स्वर्णिम
गौर शिखर सी!

—परिणत अब हो चुका
स्नेह में सुखमय
गाढ़ हमारा परिचय!

सोचा,
जब तुम इतनी सुंदर,
कितना सुंदर होगा
सुंदरता का अंतर!

मैंने
मुग्ध नयन डाले
नयनों के भीतर,
नील कमल उर में
प्रवेश ज्यों करते मधुकर!—

सोचा,
नील मुक्ति में उड़कर
मुक्त विहग सी दृष्टि
स्वर्ग शोभा में हो लय—
चूम सकेगी
हृदय चेतना के अवाक्
आरोह अगोचर,
खोल
कल्पना के मराल-पर!

किन्तु तुम्हारी
भौंहों में बल पड़े,
दृगों से
फूटीं जब चिनगारी,—
निरपराध मन
बोल उठा तब
बलिहारी!
बलिहारी!

किसलय पुट की
कुंद मुकुल स्मिति से खिंच कर
मुँह पास ले गया मन विस्मृत,
मधु माणिक घट से थी
फेनिल सुधा धार सित निःसृत—

पर,

लौह शलाका-से रक्तिम

द्रुत कँपे अधर,—

मुँह फेर लिया तुमने

मुझको कर विस्मित !

स्वर्णिम कदंब फूलों-से मृदु

उभरे उरोज छवि-शिखरों पर

जब मैंने मस्तक धरा सुघर,—

तुम ज्यों वन-पशु को देख त्रस्त

झट पीछे हट,

कुछ अस्तव्यस्त....

फिर मुझको जाते देख दूर

आश्वस्त हुई

मन से समस्त !

हाँ, संध्या को

जब फूल-बेलि सी बाँहों में

मन क्षण भर बँधने को मचला,

फुंकार उठीं तुम,

फूल हार वह

फणधर सर्प-पाश निकला !

सोचा मन ने हँस—

यही पुरुष की प्राण-सखी ?

जो तुमने लीला रच परखी !

त्वक् पिंजर भीतर से निरखी !

तन इसका शोभा का मंदिर,—

क्यों अंधकार का हृदय अजिर ?

बोला अलिप्त मन भाव-मग्न—
किन रज-मूल्यों से प्राण-चेतना
स्त्री की युग युग से कल्पित!
बलि पशु वह निश्चित
मात्र काम-वेदी को अर्पित!!

प्रीति-स्पर्श से निपट अपरिचित,
भाव-मूल्य के प्रति आशंकित,
केवल,
केवल काम-स्पर्श प्रति जागृत!!
भर आया अंतर
करुणा से विमथित!

ओ शोभा-सर की मरालियो,
तुम्हें सौंपता मानवता को
मैं,—सखीत्व के स्तर पर!
बलि-पशु मात्र न केलि-यज्ञ की
बनो मानवी भास्वर!

खोलो रुद्ध हृदय वातायन,
स्वर्ग किरण आएँ भूपर छन!
सखा-सखी बन सकें प्राण-मन,
भाव-स्पर्श कर सके उर ग्रहण,—
जड़ निषेध का पाहन!

अंतर हो चिद् वारि सरोवर
प्रीति-हंस का सित घर!

सुंदर तन,
सुंदर हो जीवन !

हृदय प्रीति का स्फटिक-मुकुर,
मन आतमा का सित वाहन !

यह साधना धरा जीवन की
कवि करता आवाहन !

शुभ्र प्रेम ही मानव जीवन
हृदय पुष्प सित करो समर्पण—
ईश्वर करे धरा पर विचरण
भू कर्दम हो पावन !

तन न रहो तुम,
त्वच न रहो तुम,
शोभा के छिलके के भीतर
भावाऽमृत का हो रस-सागर !
फूल देह में
फले स्नेह-फल,
इसमें ही भू-मंगल !

(इकतालीस)

ये प्रणयी जन
छिपे कामना-कुंजों में घन
कौन रस-कथा कहते गोपन,
भाव व्यथा सहते मन ही मन !

देश काल से ऊपर उठ कर
अपने ही पर निर्भर,
क्या ये अभिनव स्वर्ग-सृष्टि
रचते उर भीतर ?—
स्वप्नों की धर नींव मनोहर !

स्यात् कभी आता कोई जन
ये चुप हो,
आँखों में बातें करते तत्क्षण !

फूल देखते अपलक-दृग मुख
मर्म कथा सुनने को उत्सुक,—
चिड़ियाँ पास फुदक कर आतीं

चुक् चुक्,
इनका ध्यान बटातीं,
गूढ़ भेद कुछ समझ न पातीं!

जोड़ों में बँट ये प्रणयी जन
क्या बातें करते तन्मय मन?
काल,
उन्हें संचित कर प्रतिक्षण
मानव मन का गहन अध्ययन
करते यदि तुम,—
तो किस कारण?

क्या चुन चुन
नव यौवन उर के रस मरंद कण
विधि नूतन
सौन्दर्य-सृष्टि गढ़ने को उन्मन?
मंद मुसकुराते तुम!—
हिल अनुभूति-वृद्ध शिर
इंगित करता हो—
कुछ भी तो अभी नहीं स्थिर!

हाय, देखता मैं विषण्ण मन,
गोपन बातों में अब वह
न रहा आकर्षण!!
कहीं खो गया
मुग्ध क्षणों का भी सम्मोहन!

दैव, मर गई पद-नत प्रेमा,—
आँख उठा कर
देख न पाती वह मेरा मुख—
बंधन दुष्कर!

भाव पंगु मन,
काट दिए किसने उसके पर?
अब न मुक्त उड़ सकता उर
छू स्वर्ग दिगंतर!!

क्यों न प्रेम का रश्मि-स्पर्श
नव प्रणयी जन को
काल, उठा पाया
रस उर्वर आकाशों में?
जहाँ उच्च वायुएँ
प्रजागर रखतीं मन को?

क्यों न भावना-स्वर्गों की
सुषमा में वेष्टित
इंद्र धनुष प्रभ
स्वप्न-नीड़-जग
करने निर्मित
नहीं दिखा उन्मेष कहीं
तृण मृद् वासों में,
आशान्वित करता जो
भू-तम दंशित जन को!

स्वप्न संपदा,
मुग्ध भाव ऐश्वर्य प्रहर्षित,
नव रस संवेदना,
सृजन प्रेरणा अपरिमित
किसका पा आघात
हो उठीं छिन्न भिन्न, खंडित,
भू-लुंठित !

अह, सांप्रत विकास क्रम सीमा !
आँख मिचौनी खेल
दिव्य अतंर-प्रकाश से
आँख मूँद लीं उसकी
रज-अंगुलियों ने धर,
झोंक देह की धूलि दृष्टि में
भू पर स्वर्ग-सृजन करने की
क्षमता ली हर !!

दृष्टि अंध, वह बंदी अब
तन की कारा में,
लक्ष्य भ्रष्ट हो
बहता जग का
राग द्वेष पंकिल धारा में !

देह-मोह ने, काम द्रोह ने
निर्मित किया गगन-पंखी हित
स्वर्णिम पिंजर,
सदाचार की, नीति-भीति की
त्वच-तृण तीली
सँजा मनोहर !

प्राण अनुर्वर,
बाहर लोक लाज से मर मर
भू विषाद के दाने चुगता
वह रस-कातर !

शासक से बन शासित, श्री-हत,
छाया सा कंपित वह पद-नत,
मुक्त तत्व से बद्ध वस्तु बन
लघु संसार जोड़ने में रत !

उच्च सत्य आरोहों से गिर
अवगुंठित मुख, लज्जा-नत सिर,
जीवन का करता कृतघ्न श्रम
बुन अपने बाहर भीतर भ्रम,—
भूल जगत्-जीवन-विकास-क्रम !

ओ चिर अंतर्मुक्त,
कहाँ तक बँधे रहोगे
जड़ बंधन में ?
वे स्वर्णिम ही सही गठन में !

क्या विद्रोह न शक्ति तुम्हारी ?
जिस पर ईश्वर भी बलिहारी ! —
तोड़ो मोह शृंखला भारी
उठो, जगो, चित् शक्ति दुधारी ! —
विजय तुम्हारी !

प्रेम भले बन गया आज हो
मोह द्रोह तम, काम क्लेश भ्रम,
राग द्वेष, भय संशय,——

देखो,
नयी उषाएँ लातीं
नव जीवन अरुणोदय!

निज अजेय पंखों से फिर
स्वर्गिक उड़ान भर
रस क्षितिजों का
भाव विभव नव
उद्घाटित कर——

बरसाओ नर नारी उर में
स्वर्गिक स्वप्नों का सम्मोहन
उपकृत करो धरा-रज प्रांगण,——

प्रीति मुक्त हो विचरे भू पर
सृजन स्वप्न रत हो जन अंतर,——
देह न हो जड़ बंधन!

(बयालीस)

माता-पिता न आज्ञा देते ?
मन ही मन भय-संशय सेते ?

कहते "तुम मृदु कली,
जगत् कटु काँटों का मग,
सोच समझ कर
असि पथ पर
रखना होता पग !

"केन्द्र व्यक्ति ही,
विश्व भले हो
सत्य की परिधि,
अणु में ही ब्रह्मांड
देखना संभव,—
जो विधि !

"परंपरा की
स्वर्ण शृंखला से
जन शासित,

सत्य नहीं सब
जो कि आधुनिक
होता भासित !

"प्रेम ?
मूल्य देना होता
उसको सामाजिक,
मर्यादा तट
लाँघे क्षण-भावुकता--
तो धिक् !"

तुम मुझसे पूछती ?--
रिक्त यह चर्वित चर्वण,
भाव-मुक्ति ही मुक्ति,
शेष रज-तन-तम बंधन !

पिंजर बद्ध रहें स्त्री नर ?
यह भी क्या जीवन ?
पिंजर भी तन के तृण का !--
बंदी आत्मा-मन ! !

परंपरा ?
यह उसका
मध्य युगी रूपांतर,
अतिक्रम कर
सीमा अतीत की
बढ़ता नित नर !

मूल्य चेतना का करतीं
स्थितियाँ निर्धारित,

मानव का जीवन मन
जिनसे होता शासित !

भू जीवन स्थितियों का
करना नया संगठन,—
नया मूल्य-केन्द्रिक हो
सामाजिक जन-जीवन !

नयी लोक मर्यादा
इससे होगी विकसित,
देह-मूल्य में नहीं रहेगी
प्रेमा सीमित !

काम द्वेष ?
यह निम्न योनि की
पशु प्रवृत्ति भर,
इससे दग्ध रहेंगे
रस-प्रबुद्ध नारी नर ?
जन्म प्रेम ने अभी
लिया ही कहाँ धरा पर ?
उसके हित
तप त्याग अपेक्षित,—
वह भू-ईश्वर !

घृणा द्वेष लांछन
उसके हित
सित स्वर्गिक वर,
तुच्छ देह मन धूलि
प्रेम पर करो निछावर !

मंदिर हो तन
प्रेम दीप्त जो हो अभ्यंतर,
स्वर्ग धरा पर विचरे,
सार्थक जीवन का घर!

निकलो कूप तमस से
जीवन प्रभु-प्रकाश-वर,
खुला स्वर्ग शिखरों से पर
आत्मा का अंबर!

देह भीति खो,
मनुज प्रीति में बँध नारी नर
श्री शोभा मंगल का
सौध उठा जन-भू पर—

बरसाएंगे भावों का
ऐश्वर्य अनश्वर,
हटा देह-तम-पटल
हृदय के द्वार खोल कर!

कूप बनेगा
सित प्रतीति रस विस्तृत-
सागर,—
ग्रंथि-मुक्त,
सहृदय होंगे
स्त्री पुरुष परस्पर!

(तैंतालीस)

आओ, आओ,

मृदु मुख मुकुलों-से मुसकाओ!

नव जीवन शिशुओ,

जन-भू रज

पद चिह्नित कर जाओ!

स्वप्नों के-से चरण चिह्न स्मित

भू उर शूल करेंगे कुसुमित,

धरती की

जड़ता को गति दे

देश काल में छाओ!

आओ, आओ,

नया हास बरसाओ!

निश्छल स्मिति का

स्वर्ग प्रकाश लुटाओ!

नव अधरों से रंग-किसलयित
जन प्रांगण पतझर हो मुकुलित,
स्वर्ण अंकुरित हों नव तन मन,—
धरा विषाद मिटाओ!

आओ, आओ,
कोकिल चातक के सँग गाओ!

आत्म नील
स्मित निर्मल चितवन,
कैसा लगता
प्रिय जग प्रतिक्षण?

लौट रही मेरी शैशव स्मृति—
पा अग-जग का सद्यः परिचय
उर अवाक् करता सित विस्मय!
तितली, जुगनू,
फूल, चाँद, उडु
मन में क्या कुछ भरते आशय!

चिड़ियों के स्वर, रंगों के पर—
सब कुछ कैसा लगता सुंदर!
कितना सम्मोहन था भीतर,
कितना आकर्षण था बाहर!

बादल, इंद्रधनुष, गिरि निर्झर,
इच्छाओं के मुक्त दिगंतर—
कौन वस्तु थी वह दृग् गोचर
जो तत्क्षण न हृदय लेती हर!

आओ, आओ,
वही दृष्टि फिर लौटा लाओ !
जग को मन से नया बनाओ !

नहीं तुम्हारे योग्य अभी जग,——
बच्चो, क्रम विकास का यह मग !

जीर्ण रूढ़ियों का जड़ पंजर
बंदी करे न तुम्हें,—दिखा डर !

इससे पहिले ही——रह तत्पर
लोहा लेते रहो निरंतर !

शिशु-भविष्य के तुम्हीं हो पिता,
तरुण बनोगे, बाल्य क्षण बिता ! ——

नयी पीढ़ियों को निज यौवन
वृद्ध जगत् को करना अर्पण ! ——

वत्स, तुम्हारा ही तो शोणित
स्वर्ग-अग्नि-लौ से तप-दीपित !

मरणोन्मुख जग,——प्राण दान दो,
सित पौरुष को प्रथम स्थान दो !

त्याग करो जन मंगल के हित,——
नव भविष्य हो तुमसे उपकृत !

नयी पीढ़ियाँ अब जो आएँ
स्वर्ग समान धरा को पाएँ !

शोभा चले धरा पर जीवित,
अंतः सुख से हो उर दीपित !

सृजन शांति हो जग में स्थापित,
मनुज प्रेम से जीवन शासित !

आओ, आओ,
जन अभिनंदन पाओ!

तुम नव जीवन प्रतिनिधि
भू को उच्च उठाओ!

ओ अजेय,
    चैतन्य स्फुलिंग,
धरा ही क्या,
    तुम स्वर्ग लोक में भी
        न समाओ!

(चौवालीस)

मुक्त प्रकृति के प्रांगण !
बहुत दिनों में मिले
तुम्हारे गौरव दर्शन !

बचपन में हिरना सा चढ़
इन गिरि शिखरों पर
खेला हूँ,——प्रिय तलहटियों में
लोट पोट भर !

कूद उच्च शृंगों से
गाते-फेनिल निर्झर
मुझे बहा ले जाते,——
उर वीणा झंकृत कर !

उतर बादलों से गिरि-भू पर
इंद्रधनुष स्मित
स्वर्ग धरा को
बाँहों में भरते सतरंजित !

ताली दे-दे कर
गिरि बालाएँ आनंदित
फहरातीं निज
सुरँग चूनरें—विस्मय पुलकित !

मरकत छायाओं के वन
अहरह भर मर्मर
उद्वेलित रहते,
जलनिधि-से कंपित थर् थर्—

चलता कंधों पर
किशोर कौतुकी समीरण
उछल सिंह सावक सा
शिखर शिखर पर प्रतिक्षण !

ऊँची ढालों के नीचे
जल-स्रोत अगोचर
रेंगा करते साँपों से
फुफकार निरंतर !

मन अवाक् रखतीं
चुप्पी साधे चट्टानें
खड़ी सामने निर्भय
चौड़ा सीना ताने !

शृंग लाँघने की
रहती थी भूख डगों को,
पैर पार करते
सर्पों-से जिह्म मगों को !

देवदारु के हरे शिखर
रहते रोमांचित,
सतत सिसकते
चीड़ों के सूची वन मंथित!

रंग पंख भाते
मनाल, डफिया——बहु हिम खग,
मन में बसता
हिरन शशक—पशु पक्षी प्रिय जग!

ऊषा संध्या से
विचित्र था मन का परिचय,
एक प्रेयसी सी थी,
इतर सखी सी सहृदय!

एक लाज में लिपटी
उर करती छवि-तन्मय,
साथ टहलती साँझ
मुझे घर छोड़,— सदाशय!

अमरों के ऐश्वर्य लोक सा
था निःसंशय——
कौसानी का शुभ्र
स्वर्ग सिरमौर हिमालय!

आत्मा की शोभा गरिमा ही
मूर्त रूप धर
रोमांचित रखती——
अपलक स्वर्गिक विस्मय भर!

नील विहंगम की उड़ान सा
नीरव अंबर
मन को स्वप्निल पंखों की
छाया में सेकर—
मौन हिमालय की सन्निधि में
कर अंतर्मुख
आत्मा का साक्षात्
कराता, उर कर उन्मुख !

इधर उधर फिर अंबर में,
सागर भूतल में,
नीड़ों में छिपते खग,—
मैं प्रिय गिरि अंचल में !

रमता मन वाङ्मय, संस्कृति,
श्रुति दर्शन मग में—
पर वह तन्मय होता
प्रकृति, तुम्हारे जग में !

इन आरोहों पर बीते
कितने चिन्तन-क्षण,
कितनी गहरी छायाओं के
घिरे धूम-घन !

रजत अनिल पंखों पर उड़
भावुक किशोर मन
टकराता घिर विद्युत्-
चट्टानों से तत्क्षण !

जूझ धरा-रज के तम से
मन का प्रकाश कण
क्या पा, क्या दे सका—
थाहने का क्या साधन?

सौ सौ मनुजों का जीवन
होता कवि-जीवन
उसके सुख दुख, हानि लाभ, ?—
संभव न परिगणन!

पीता वह भू-मन के
राग द्वेष के दंशन,
उसके सृजन स्वप्न संवेदन!—
ब्रह्मा के धन!

स्वर्ण-भृंग सा गूँज
शुभ्र एकांत हृदय में
अंतर को कर लीन
लोक हित मधु-संचय में—
लाद गया अह, निबल पीठ पर
भू जीवन दुख—
विष ज्वाला पी
बरसाते उर-मेघ अमृत सुख!

प्रभु, भू पर हो
भौतिक आत्मिक जीवन मंगल;—
सितगिरि, तेरे चरणों पर
अर्पित सुख दुख फल!

(पैंतालीस)

गिरि शृंगों पर भातीं आतीं
ऊषा संध्याएं दिङ निःस्वर,
नील गगन से झर झर पड़ता
स्वर्णिम किरणों का स्मित निर्झर !

उषा स्वप्न-शोभा-ज्वाला से
रँग सा देती विश्व दिगंतर,
एक अनिर्वचनीय शांति में
भाव मग्न हो उठता अंतर !

खग ही गाते ? फूल पात तृण
रजकण भी गाते इंगित कर
मुझे सुनाई पड़ते उनके
दिक् प्रसन्न, कंपित, नीरव स्वर !

लिपट समीर लता तरु तृण से
पुष्पों की मधु रज पी सुरभित,
स्वर्ग श्वास सा बहता शीतल
प्रति रजकण को कर उन्मेषित !

भूतों का ऐश्वर्य
जीव जग को भी
करता तन्मय, हर्षित,
गिरि शिखरों का नव प्रभात
हरता मन
सद्यः शोभा प्रहसित!

साँझ मुझे पर, अधिक सुहाती
छाई निर्जन गिरि आँगन पर
स्वप्नों में सी डूबी तन्मय
शनैः उतरती वह श्री सुंदर!

स्वर्ण-नील गैरिक छाया में
भाव-निमज्जित हो गिरि प्रांतर
ध्यानावस्थित सा लगता—
अपलक, निश्चल, अंतर्मुख-भास्वर!

रजत-वारि दिन का उडेलकर
रक्तिम ताम्र कलश सा भास्कर
ज्योति-रिक्त अब, ऊब डूब सा
करता पश्चिम सागर तट पर!

प्रदक्षिणा करता पृथ्वी की
प्रतिदिन उदय अस्त हो दिनकर,
तथ्य यही, विपरीत सत्य हो–
जन मन बाह्य-बोध पर निर्भर!

गिरि ढालों पर ढलतीं
छायाएँ, दिगंत लंबी काया बन,
भेड़ों की घंटी बजतीं
धूमिल तलहटियों से प्रतिक्षण छन !

बहिर्विभवमय अंतः स्मित ऊषा—
सक्रिय तन-मन, जीवन-क्षण,
अंतर्दृष्टिमयी प्रौढ़ा संध्या,
मन करता मौन समर्पण !

शनैः अस्त आदिम-तम में जग,
उदित हुआ वह जिससे निश्चित,
ज्योति-छत्र सा ऊपर अंबर—
अंचल छाया में शिशु निद्रित !

सायं प्रातः, प्राण, तुम्हारे ही
श्री स्वर्णिम स्वर्गिक तोरण,
रजत काल करतल पर
भव गति स्थिति लय नर्तन की
तुम कारण !

(छियालीस)

कैसे करूँ
धरा पर तुमको
प्राण - प्रतिष्ठित,
जहाँ प्रीति अभिशाप
काम सुख
बहुमुख स्वीकृत!

सखि, अरूप सुख स्पर्श
भाव-प्रतिमा बन जीवित
नव नव श्री शोभा से
मन को
रखता विस्मित!

अपने ही को छू
तुम हो उठती
रूपायित,
रहस हर्ष से प्राण
गूढ़ रति-स्मृति से
पुलकित!

स्वर्ग रश्मि हे,
चुना स्वयं ही
तुमने कर्दम प्रांगण,
फूलों के पग
शूलों के मग में
हँस करते विचरण!

अनघ-विद्ध रह
कल्मष द्रोणी
करती तुम नित पावन,
रोमांचित रज
चरण - स्पर्श से
बनती मरकत मणि घन!

प्रेम नाम की
प्रतिक्रिया ही
उपजाती अविदित भय,
सुधा गरल का,
गरल सुधा का
अब पर्याय, न संशय!

तामस मदिरा पी
युग - मन
करने को भू-जीवन क्षय,
दिव्य दृष्टि से
देख रहा जय
काल पुनः बन संजय!

जो कलंक-तम मोचक
उससे होता
जगत् कलंकित,
कैसे करूँ
धरा पर, श्रद्धे,
उर की ज्योति प्रतिष्ठित!

(सैंतालीस)

चाँदनी सी देह
बाँहों में समेटे
सोचता मन भाव-कातर—
कौन सूक्ष्म सुगंध
करती प्राण तन्मय—
राग-कर से छू निरंतर!

खुल रहे मन के दृगों में
स्वप्न पंखी
नयी शोभा के दिगंतर,
धरा से उठ चरण मन के
लौट आते,
पार कर रस-मुक्त अंबर!

प्राण,
कैसे मूर्त होगी
धरा रज में
स्वर्ग सुषमा,
भाव रस अतिमा मनोहर!

किस अहंता दंश से
जाने प्रवंचित
भाव कुंठित, मोह मूर्छित
मूढ़ स्त्री-नर!

स्वाभिमान भले महत् हो,
वर्तमान विकास स्थिति में
कूप जल मंडूक वत् ही
आत्म रति संकीर्ण अंतर!—
प्रीति श्वासा सृष्टि की,—
सित भाव रस अर्पित हृदय ही
पार कर पाते
अनास्था उदधि दुस्तर!

ज्योति को घातक तमिस्र
तमिस्र को ही
मानता जग ज्योति भास्वर,—
मोह रज दुर्गंध पर ही
काम दग्ध
दरिद्र नर-नारी निछावर!

चाँदनी सी
तुम हृदय में हो समाई,
स्वर्ग की सित गंध
बहती भाव-जग में
मुक्त झर झर,

अमिट आस्था मुझे—
शनैः विकास क्रम में
सूक्ष्म की होगी विजय
मा, स्थूल पर,
तुम मनुज को दोगी अभय,
दे ज्योति प्रीति प्रतीति का वर!

(अड़तालीस)

कैसे कहूँ ?
कथा गोपन !
सुन व्यथा जगत् को होगी !
जो अमूल्य मणि
उसे तुच्छ
जग के मूल्यों पर लोगी ?

बिना कहे ही
भाव-गंध, लो,
फैल गई अग जग में,
सूक्ष्म सुरभि उड़
समा गई
भू जीवन की रग-रग में !

तारे नहीं,
तरेर रहे
मुझको सौ सौ भू-लोचन,

कहीं खोल दूँ
मैं न हृदय में
स्वर्ग-ज्योति वातायन!

और कहीं
सचमुच उचार दूँ
मुँह से ढाई अक्षर,
कोलाहल
मच जाय,—
लजाए अणु-विस्फोट भयंकर!

लोग नहीं
विश्वास करेंगे,—
सत् उठ गया मनों से,
काली घृणा
बरसती भू पर
संशय धूम घनों से!

हीरक नीलम स्रक्
चितकबरा
साँप बन गया भीषण,
मणि अंगार,
अमृत विष,—
कुंठित काम-अंध जन-भू मन!

मात्र काम
भावार्थ प्रेम का,
प्रहर ह्रास का निश्चय,

मोह निशा
बीतेगी! —
होगी हृदय ज्योति ही की जय!

मध्ययुगी
तम कूप वृत्ति यह,
इसमें मुझे न संशय,
प्रीति रश्मि को
विश्व संचरण बन
हरना जन-भू भय!

हृदय गुणों से
हीन व्यक्ति ही
भू विकास अवरोधक,
प्रीति ज्योति से
रिक्त काम तम
विश्व ह्रास का बोधक!

उद्वेलित हो भले
राग-यमुना का
सागर-संचय,
मन कालिय फण
पुनः नाधना
नव युग को निःसंशय!

स्वप्न सखी,
हम मनुज हृदय को
प्रेम निवास बनाएँ,
जीवन दाहक
काम अग्नि से
सृजन मुक्ति जन पाएँ!

(उनचास)

आज खुल गए हृदय द्वार,
सखि, उमड़ा चित् ऐश्वर्य ज्वार!
एक अनिर्वचनीय
स्वप्न सौन्दर्य भुवन
हो उठा स्फटिक-क्षण में साकार!

बदल गया हो जग का आनन,
हिम आरोहों पर फहराते
फालसई स्वर्णाभा केतन,
भू के धूलि-कणों में अँगड़ा
उगते माणिक-अंकुर चेतन!

गूँज उठी हों
स्मित मरकत घाटियाँ
हँसे नीरस जीवन-क्षण!
रुद्ध खुल पड़े हृदय-द्वार
हर उर का मोहित भार!

प्राणों की शोभा का
चंपक-गौर वक्ष जो
मेरी दृष्टि
लुभाए रहता बरबस,
उस पर से
अब रूप-मोह का
सरक गया
सहसा अंचल खस,—

सूक्ष्म अनावृत सुषमा का
नव अंतरिक्ष अब
उर की आँखों में उद्घाटित,
छिन्न-भिन्न
प्रेरणा समीरण से
जाने कब
मनोवाष्प सब हुए पराजित !

शुभ्र चेतना का मुक्ता-घट
झुक उडेलता हीरक-आभा,
प्राणों की घाटी में उतरी
भाव लाज में लिपटी द्वाभा !—
खुलता आत्मा का प्रसार !

वधू, प्रेम की तन्मयते,
आनंद तड़ित् चुंबक तुम गोपन,
अमित तुम्हारा सित आकर्षण
खींच आत्म-पर बोध से परे
जिस अशोक
चेतना लोक में ले जाता मन—

मति न अघाती
पी उसके
चित्-रस संवेदन!

इसी बोध के
नव आस्थे,

ला प्रीति-स्पर्श क्षण

धरा पीठ पर
करो अवतरण!—
उपकृत हो संसार!

(पचास)

कैसे चित् शोभा
छायांकित करूँ
लोक दर्पण में?—
श्री सुषमा की
तन्मय अतिमा
जन-भू जीवन मन में!

बने उरोज शिखर ही
अब युग-बोध के शिखर,
युग नितंब गोलार्ध,
योनि-आँगन ही
जीवन-अजिर—
लोक-मन दुस्तर!

बिखर गई गत मनुज हृदय की
दैवी संपद् भास्वर,
नया हृदय होरहा उदय,
नव प्रीति-स्वप्न स्पंदन भर!

निखर रही दृग् सम्मुख तुम
सौन्दर्य शिखा सी निःस्वर,
काम-शलभ छवि-दग्ध,
प्रीति लौ से दीपित अब अंतर!

खुलते अक्षय सूक्ष्म चेतना भुवन
चकित अंतर में,
देह-बोध-क्षण लीन
प्रीति रति के अकूल सागर में!

लोट रहा आनंद स्वर्ग
सित श्री शोभा चरणों पर,
जो उठती भू-रज पद छूकर
हँस सुमनों में सुंदर!

कैसे दिखे अगोचर सुषमा
शब्दों के दर्पण में?—
भाव-ग्रहण के लिए
सूक्ष्म अनुभूति
चाहिए मन में!

(इक्यावन)

किसने कहा कलंकित
इंद्रिय जीवन प्रांगण ?—
देह चेतना-पावक ही की
जीवित सित कण !

स्वर्ग बिम्ब ही से उपजा
भू जीवन निश्चय,
रेणु-पात्र में भरा
वही पीयूष असंशय !

अब भी भू पर मँडरातीं
दिव सुषमा छाया,
स्वप्न-पंख उड़ती अज्ञात
मनोमय काया !

गंध प्रीति-मुख की
साँसों में बसती अक्षय,
आत्मा की सित सौरभ,—
अंतर स्मृति-सुख तन्मय !

अब भी दे
मंदार-लता - बाँहें आलिंगन
भाव यौवना
अप्सरियों सी हरतीं तन मन !

स्वर्गंगा-लहरों पर उठ-गिर
स्वर्ण कलश स्मित
प्राण चेतना सरिता - जल कर
राग उच्छ्वसित—

राज मरालों-से
उड़ान भरते मानस में,
डुबा कल्पना को
अनिन्द्य श्री सुषमा रस में !

देव दनुज पशु
हुए मनुज में पूर्ण समन्वित,
मानव इंद्रिय-जीवन प्रिय,
सँग ही इंद्रियजित् !

स्वर्ग लते, कहता यह कौन
नहीं तुम भू पर ?
उतर प्रेरणा पंखों पर
पुलकित कर अंतर

रज तन को छू करती तुम
रस-चेतन, पावन,
वाहित कर चेतना गगन में
जड़ को तत्क्षण !

काम नहीं रज तन गुण--
स्वर्ग सृष्टि का कारण,
तुम उसको निज स्वर्ण योनि में
करती धारण!

सृजन-स्पर्श से जग उसके
जड़ बनते चेतन,
वह आत्मा का पावक
पावन जिससे मृद् तन!

भाव-युवति हे,
तुम आत्मा की रस प्रकाश,
ह्लादिनी-तड़ित् घन,
पावक शक्ति,--निखरता जिसमें
तप मन कांचन!

जड़ चेतन से परे,
प्रेम-परिणीते,--शाश्वत
श्री सुषमा मंगलमयि,—
उर पद-पद्मों पर रत!

(बावन)

क्षुधा काम को
मानवीय गौरव दो भू पर,
रज कर्दम में,
कृमि-से डूबे रहें न स्त्री-नर !

ईश्वरीय संचरण प्रेम का
हो दिग् विस्तृत,
क्षुधा काम की पीठ
धरा हो रस-मर्यादित !

कवि-उर मानव प्रीति स्वाति का
सित रस चातक,
लोक भावना की
विकास पद्धति का स्नातक !

हृत् प्रतीक स्त्री,
मनुज हृदय का वह आराधक,
आत्मा मन ही नहीं,
धरा-जीवन का साधक !

भाव प्रियाएँ कवि की
सब जन-भू की नारी,
कवि मन जीवन - शोभा
-मंगल का अधिकारी!

प्रेमा की सित रश्मि
संयमित करे लोक-मन,
लघु कुटुंब से महत्
मनुज जग का आकर्षण!

हँसते फूल, चहकते खग,
अलि भरते गुंजन,
सृजन काम, रस-तन्मय हो
स्त्री-नर उर-स्पंदन!

स्वप्नों के शोणित से
मनः शिरा हों प्रेरित,
शोभा हो स्त्री, पुरुष प्रेम,
रज रोम प्रहर्षित!

भू पर विचरे
मानव-उर में बंदी ईश्वर,
मुक्त प्रेम के पग धर
जन मन को संस्कृत कर!

क्षुधा काम भी रहें
कुटुंबों में लघु सीमित,
स्वर्ग प्रीति से
मानवता का मुख हो दीपित!

भू जीवन हो
प्रीति चंद्र चुंबित
रस-सागर,
उन्नत शोभा ज्वार मथित,
अंतर्मुख भास्वर !

मनुज हृदय ही हो
मानव का भाव दीप्त घर,
अंतर्वैभव में समृद्ध,
बहिरंतर सुंदर !

वधू, तुम्हें रचना भू-गृह
तन मन कर अर्पित,
भू अघ में सन कर ही
होगी तुम अकलंकित !

सित पवित्रता वह्नि
हृदय की ज्योति आंतरिक,
धिक् उनको,
जो उसको
त्वक् सीमित रखते,—धिक् !

(तिरपन)

तुम्हें पंक से उठा, प्रिये,
मन हृदय - स्वर्ग में
करता स्थापित !
कौन रश्मि
जाने उर को छू
दिव्य रूप करती उद्घाटित !

स्वार्थ-क्रूर स्वर्णिम जग पिंजर
बंदी तुम, जीवन मन जर्जर,
पग पग पर
शंकित निज प्रति उर,
रूढ़ि रीति तम से
चिर त्रासित !

सरल धान की सी बाली तुम
स्वयमपि श्री शोभाशाली तुम,
निठुर क्षुधातुर वन्य धरा पर
भाव लता
भव झंझा ताड़ित !

पशु बल का भू पर संघर्षण,
संस्कृत हो नर——दूर अभी क्षण,
अंधकार चलता धरती पर
जग जीवन
लगता अभिशापित !

देख रहा मैं, भू-निश्चेतन
भरता जो फूत्कार, उठा फन,
सुन वंशी ध्वनि अंतरिक्ष में
सृजन नृत्य रत,
प्रणत, पराजित !

पौ फटने का पूर्व प्रहर यह
गहराता अंतर-तम रह रह,
हृदय क्षितिज में उदित हो रही
तुम ऊषा सी
अप्रत्याशित !

काम दग्ध न रहेगा अंतर
स्वर्ग प्रीति विचरेगी भूपर,
ईश्वर हो रस-मूर्त सृष्टि में——
यह विकास क्रम में
निर्धारित !

तुम्हीं सूक्ष्म आत्मा जीवन की,
हृदय ज्योति श्रद्धा नत मन की,
भाव मुक्ति तुम,
भू पर जीवन मंगल स्वर्ग
करो रूपायित !

(चौवन)

तुम ईश्वर को भी
अतिक्रम कर आती,
मनुज सत्य बन
श्री शोभा मंगल बरसाती !

जग जननी तुम प्राण सखी बन
सँजो रही जन का घर आँगन,
अनघ विद्ध सित भाव-देह धर
भू रज को अपनाती !

नव जीवन की दे अभिलाषा
बदल दुःख सुख की परिभाषा,
देह प्रीति पर
भाव प्रीति की
विजय ध्वजा फहराती !

दीपित कर रज अंधकार क्षण
खोल हृदय में रस वातायन,
राग रुद्ध
अंतः क्षितिजों पर
नव प्रभात तुम लाती !

छिड़ा देह-मन में संघर्षण
भाव जगत में गहन राग-व्रण,
स्वर्ग प्रीति में
तन मन आत्मा के
तुम भेद डुबाती !

मृद् तन में सीमित न रहे मन,
नया मूल्य-केन्द्रिक हो जीवन
नर नारी को
भाव मुक्ति में
बँधना तुम सिखलाती !

प्रीति गंध से वंचित अंतर
राग द्वेष का जड़ खँडहर भर,
काम पंकमय
धरा नरक पर
सित रस स्वर्ग बसाती !

राग युद्ध छिड़ने को भू पर
भय संशय से अंतर थर् थर्,
स्वर्ग रक्त से स्पंदित
उर की
सूक्ष्म शिराएँ गातीं !

(पचपन)

सृजन व्यथा
जगती रहती!
तुम्हीं हृदय बन
विश्व वेदना दंशन
प्रतिक्षण सहती!

मनुज हृदय अवरुद्ध,
युगों से संघर्षण रत,
व्यक्त कर सके वह
आत्मा का स्वर्णिम अभिमत!
अंतर्ज्वाला
भाव प्रवण कवि का उर दहती!

कैसे हो भू जीवन कुसुमित
विश्व सभ्यता संस्कृति विकसित,
जब शोभा मंगल प्रहर्ष का स्रोत
हृदय ही हो निरुद्ध—
चैतन्य ज्योति रस वंचित!—
कवि की रस-सित प्रज्ञा कहती!

ओ अदम्य, अविजेय शक्ति,
तुम भूमि-कंपवत्
भाव जगत् कर मंथित,
जीवन में होगी अभिव्यंजित,
भू विरोध कर प्रशमित !
गुह्य, प्रचंड, अबाध वेग से
तुम अंतर में बहती !

भू जीवन प्रतिनिधि कवि-अंतर,
तुम हृत् तंत्री रस झंकृत कर
रचती नव चैतन्य-स्वर्ग
ढल स्वर-संगति में महती !

देख रहा कल्पना दृष्टि से
अंतर रस चैतन्य वृष्टि से
मनुज अहंता रचित सृष्टि की
रूढ़ि-अंध बाधाएँ ढहतीं !

तुम विनाश के भीतर सर्जन
करती, भर रस-चेतन गर्जन,
जग के उलझे ताने बाने
फिर निज कर में गहती !

(छप्पन)

तुम इतनी हो निकट हृदय के
भूल तुम्हें जाता मन,
प्राण, इसी से राग द्वेष का
जीवन बनता प्रांगण!

चिद् दर्पण सी तुम चिर उज्वल
जिसमें अपना ही मुख
देख मनुज,
सहता भव सुख दुख,—
प्रबल आत्म सम्मोहन!

श्लक्ष्ण सूक्ष्मता ही में अपनी
तुम खोई सी रहती,
व्याप्त चतुर्दिक्—
मात्र तुम्हीं सब,
जिसको मति जग कहती!

ओ अनाम सौरभ,
उर अनुभव करता
मौन उपस्थिति,
तुम्हें बाँध सकता न,
स्वयं बँध जाता,
परवश उर-स्थिति !

रति, अरूप सुषमा गरिमा से
भर जाता नत अंतर—
गोचर शोभा से जिसका
संस्पर्श-प्रहर्ष गहनतर !

तुम्हीं हृदय स्पंदन बन गाती
प्रति रस शोणित कण में,
सृजन चेतना बन
स्वप्नों का रूप सँजोती मन में !

भावों की जिस स्वर्ण-श्रेणि पर
करता उर आरोहण
वे पग होते, प्राण, तुम्हारे,
रहस-श्रेणि भी गोपन !

तुम होतीं,
ब्रह्मांड बोध
हो उठता करामलकवत्,
तुम्हीं सत्य हो,
रूप-मुकुर भी,
वस्तु बिम्ब भी शत शत !

रमे,

निकट भी दूर,
दूर भी निकट,
अगोचर प्रतिक्षण,
गोचर प्रतिकण में तुम——
निश्चय अवचनीय,
सच्चिद् घन !

(सत्तावन)

ज्ञात मुझे
विद्वेष सिन्धु क्यों
जन-भू मानस में उद्वेलित!—
युग मन के
चैतन्य शिखर पर
क्रांति ज्योति तुम हुई अवतरित!

आंदोलित भव ह्रास निशा तम
छाया उर में भय, संशय, भ्रम,
यह निश्चय नव जीवन उपक्रम—
अघटित होता घटित—
न जल्पित!

जग का जड़ अतीत मरणोन्मुख,
देख रहा कवि-उर अंतर्मुख,—
राग द्वेष, आशा भय, सुख दुख
प्रगति चिह्न,—
भू पथ पर अंकित!

पथराया गत जन-भू का मन
जिसके मृत प्रतीक द्वेषी जन,—
करता नव चैतन्य संक्रमण
एक वृत्त
संस्कृति का अवसित !

जिन्हें मिला, महिमे, प्रकाश-वर,
सृजन-स्वप्न-रत उनका अंतर,—
सह विद्वेष घृणा तम के शर
जीवन मंगल प्रति
वे अर्पित !

काँटों ही का मुकुट पहन कर
स्वर्ग दूत आते जन-भू पर,
सिन्धु विश्व-संघर्षण का तर
भू जीवन को
करते उपकृत !

अब प्रकाश-तम-प्रतिनिधि भू-जन
युद्ध-क्षेत्र युग-मन का प्रांगण,
विकसित होता विश्व संचरण
विजय ज्योति की
तम पर निश्चित !

(अट्ठावन)

युग-नर के सम्मुख दारुण रण !
राग चेतना से रस प्रेरित
उद्वेलित जन भू उपचेतन !

उतर रही रस ज्योति धरा पर
नव स्वप्नों से उर्वर अंतर,
मज्जित करता भू जीवन तट
नव श्री सुषमा का सित प्लावन !

वमन कर रहा भू-निश्चेतन
कटु कुंठा कर्दम तम प्रतिक्षण,
भय संशय से मर्दित भू-मन
क्रुद्ध उगलता विष पावक कण !

हृदय प्रकाश उधर रस भास्वर,
इधर देह रज तम का सागर
काम-भीति में भाव-प्रीति में
छिड़ता अब भीषण संघर्षण !

नहीं पूर्णता प्राज्ञ कल्पना,
स्वर्ग स्वप्न भी रिक्त जल्पना,
प्रीति रश्मि को भाव-मूर्त हो
जन भू पथ पर करना विचरण !

कभी कूप तम में भय कुंठित
हृदय ज्योति रह सकती गुंठित ?
श्री शोभा सुख स्वर्ग बनेगा
निश्चय मृण्मय जन भू प्रांगण !

हिम गिरि ढालों-से सित निःस्वर
स्फाटिक भावों के चिद् अंबर
जगते—इंद्रधनुष स्मृति रंजित,
स्वप्न-मुग्ध कर मन के लोचन !

सूर्य मुखी ऊषाएँ हँस कर
भाव दीप्त करतीं उर के स्तर,
रसोन्मेष मंगल प्रहर्ष का
खुलता जीवन में वातायन !

(उनसठ)

अंधकार का मुख पहचानें!
यह अनंत-मुख शेष नाग
जो धरा स्वर्ग उर में फन ताने!

ज्ञात गूढ़ इसका आकर्षण
गढ़ता गोपन रस के बंधन,
ढँकता चित् प्रकाश का आनन
अगणित इसके ठौर-ठिकाने!

निश्चेतन की गुह्य नींव पर
जीवन सौध खड़ा दिक् सुंदर,
सिर पर स्वर्ण कलश रवि भास्वर
एक अभिन्न प्रभा तम जानें!

ज्योति-यौनि तम, मुझे न संशय,
एक ब्रह्म दिन होने को लय,
हँसता नव जीवन अरुणोदय
लगी गुहा धीरे मुसकाने!

तम सोई आभा निःसंशय
इसे जगाने का ले निर्णय--
सृजन कला का पाएँ परिचय
खोल सृष्टि के ताने-बाने !

ईर्ष्या, क्रोध कलह, मद मत्सर
अंधकार के अधोमुखी स्तर--
जीवन मूल्यों का रत्नाकर
वह विकास को देता माने !

खोलो हे, तन मन के बंधन,
जग का परिचय पाने नूतन,
तम प्रकाश-मुख ही का दर्पण
बिम्बित जिसमें विश्व अजाने !

भाव-प्रीति उपजाती, मा, भय,
तुम्हें समर्पित विजय पराजय,
निज प्रकाश में करो तमस लय
रस-भू पर अरुणोदय लाने !

(साठ)

मृत अतीत से
क्रांत-दृष्टि मन,
तुम विद्रोह करो क्षण प्रतिक्षण !

गत जीवन का शव मत ढो तुम,
दया द्रवित अंतर मत रो तुम,
क्या आशा उनसे
पथराए
जड़ अतीत के प्रतिनिधि जो जन !

आत्म सिद्धि हित प्रतिक्षण प्रेरित
नव संवेदन से उर वंचित,
हिम चट्टानों-से तिरते वे
अतल स्वार्थ में डूबे गोपन !

अंधकार के अंतर निर्मम
थे विकीर्ण करते संशय भ्रम,
व्योम लता-से
छाए बरबस,
चूस प्राण मन रस संजीवन !

निम्न शक्तियों से संचालित
करते नित सत् ध्येय प्रताड़ित,
सावधान हे,
मनुज रूप में
प्रेत धरा पर करते विचरण!

आओ, नव आस्था प्रति अर्पित
मनुज हृदय को करें संगठित,
ज्योति प्रहार
करें जड़ तम पर
भूमिकंप फिर दौड़े भीषण!

नष्ट भ्रष्ट हो विकृत पुरातन,
जागे फिर निद्रित उपचेतन,
तम पर हो
विजयी प्रकाश-कण,
यह भावी मानवता का रण!

भाव क्रांति ही नव विकास पथ,
भरा सृजन से युग विनाश रथ,
ठुकराओ
तम के पर्वत को,
धरा हृदय में हो प्रकाश-व्रण!

मृत जन से संबंध न संभव
विचरो प्रीति-सेतु रच अभिनव,
रूपांतर हो
जीवन मन का—
भव विकास का आया शुभ क्षण!

(इकसठ)

प्राण,
तुमको ही सर्मपित
चेतना, मन, कर्म, वाणी,
भावनाएँ, कामनाएँ भी
हृदय की—
ध्यान के कृश सूत्र में
सित स्नेह गुंफित
तुम्हें ही
सविनय सर्मपित !

रूप-श्री, सौन्दर्य-प्रतिमाएँ मनोहर
सतत जो करती रहीं
मन को विमोहित,—
नील मृग दृग, चल भृकुटि,
नासा सुघर,
सस्मित कपोल,
अधर प्रबाल,
मराल वक्ष,
पुलक-लता सी बाँह कोमल—

तुम्हें करता हृदय
अंतः स्थित
समर्पित !

मात्र प्रतिकृति ये अविकसित—
सार सत्य तुम्हीं अनश्वर
सकल श्री शोभा प्रहर्ष
प्रकर्ष की सित—

तरुणि, तन्मय-भाव-गोचर,
तुम्हीं में लय
प्रणत अंतर
मौन अनुभव-रत निरंतर
देखता अब—

तुम्हीं हो सर्वस्व मेरी,
तर्क मंथित बुद्धि
करती व्यर्थ देरी—

निखिल तन मन प्राण
जीवन साध,— एकत्रित
तुम्हें करता समर्पित !

स्पर्श पा चैतन्य का
अस्तित्व-रस-पुलकित
सृजन रत, मुक्त अंतर !—

खुल रहे श्री-सूक्ष्म
शोभा के दिगंतर
हृदय को आनंद में कर
सिन्धु-मज्जित !

रिक्त केंचुल सा जगत्
लगता असार विरस
तुम्हारे प्रेम से वंचित!

लौटता उर,
मा, तुम्हारी ओर,
जन-भू प्रीति मंगल का
अतंद्रित स्वप्न
तुमको कर सर्मपित!